स्तबक

स्तबक

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप मे राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमे तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है। उनके नीचे बैठा है मुशी जो व्याख्या का दस्तावेज़ लिख रहा है। भारत मे लेखन-कला का यह संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

स्तबक

(व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का संकलन)

सम्पादक
विद्यानिवास मिश्र



साहित्य अकादेमी

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता 700 029

29, एलडाम्स रोड (द्वितीय मंजिल), तेनामपेट, मद्रास 600 018

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014

मुद्रक

स्वतन्त्र भारत प्रेस,

दिल्ली 110 006

आभार

सम्पादक उन समस्त लेखकों का ऋणी है जिनके निबन्ध इस स्तबक में संकलित है। सभी ने स्नेहवश ही अपनी रचना सम्मिलित करने की अनुमति दी है, दिवगत लेखकों के उत्तराधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होने सहर्ष अनुमति दी।

सम्पादन में मेरे अनुजकल्प डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव तथा वात्सल्य-भाजन आयुष्मान् डॉ. देवेन्द्र शुक्ल ने सहयोग दिया। इन्हें मैं आशीर्वाद देता हूँ। साहित्य अकादेमी के वर्तमान सचिव प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी ने तत्परता से प्रकाशित किया, उनका आभार मानता हूँ।

विद्यानिवास मिश्र

अनुक्रम

भूमिका

निबन्ध आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। एक तो इस कारण कि आधुनिक हिन्दी का निर्माण भारतेन्दु युग में निबन्ध के ही माध्यम से शुरू हुआ, दूसरे इसलिए कि निरन्तर इस माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन मुखरित होता रहा। कुछ लोगों की दृष्टि में यह एक शक्तिहीन और अलोकप्रिय विधा है, कम लोग इसे अपनाते है। कविता और कहानी ही अधिक सार्थक विधाएँ है। परन्तु ऐसे लोग भारतीय साहित्य की परम्परागत प्रवृत्ति से अपरिचित है, परिचित होते तो यह अवश्य जानते कि गद्य को कवियों का निकष माना गया है। कवि-कर्म की कसौटी आज भी निबन्ध है। कवि को एक सहारा छन्द का रहता है, दूसरा सहारा रहता है सवेद-सघनता का। पर इन दोनों के प्रलोभनो को नियत्रित करके आंतरिक लयबद्धता की ओर अपने को पूर्ण लय मे सम्पृक्त कराते हुए भी बीच-बीच मे अपने को अलग कर देने की अपेक्षा निबन्धकार से की जाती है। यह अपेक्षा बहुत ही कठिन है,, इस अपेक्षा की पूर्ति की शर्त काफी कड़ी है। वास्तविक रूप मे निबन्ध इसी से अधिक नही लिखे गये है।

वैसे तो निबन्ध एक ऐसा व्यापक नाम है, जिसमे चौथी-पाँचवी कक्षा की परीक्षा से लेकर शोधनिबन्ध तक एक ओर आते है, दूसरी ओर सस्मरण, डायरी, पत्र, रेखाचित्र, रिपोर्ताज से लेकर सुगठित व्यक्तिव्यजक निबध भी आते है और इसके साथ हो विचारप्रधान निबन्ध भी। पर जिस निबध को निकष या कसौटी माना जाता है, उस निबन्ध की सज्ञा केवल एक ही उचित लगती है—व्यक्तिव्यजक निबन्ध। एक और नाम बहुत प्रचलित है ललित निबन्ध। वह नाम पश्चिमी—'बेल-लेटर्स' 'Belle letters' का अनुवाद है। इसी अर्थ मे दूसरी भाषाओं में 'रम्य रचना' नाम भी प्रचलित है, परन्तु 'ललित' में एक विशेष प्रकार की योजना की सीमा है, वह भाषा के मँजाव मे सहायक भी हो सकती है, और भाषा की सजीवता मे बाधक भी। जहाँ कहीं ललित शब्द का प्रयोग सस्कृत वाङ्मय में आता है, वहाँ एक सजने का भाव बराबर मन में रहता है और इस सजने के भाव में आत्मरति से ग्रस्त होने का खतरा भी सन्निहित रहता है। इसलिए लालित्य-योजना केवल कहीं-कहीं विशेष

प्रयोजन से निबन्ध में या काव्य में सार्थक होती है। अपने आप में लालित्य लक्ष्य नहीं है, लक्ष्य चित्त का संस्कार ही है, जो सहज सम्बन्धों की गहराई की पहचान कराता है। पहचान के क्षण में कभी-कभी यह अवश्य होता है कि दो परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं का जुड़ाव भिन्न-भिन्न प्रकारों से, कभी सादृश्य से, कभी और किसी उक्तिवैचित्र्य से, कभी बिम्ब से, कभी प्रतीक से, अधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है। तब लालित्य भीतर के रसने के भाव का एक उपकरण बन जाता है। मैं इसीलिए ललित निबन्ध की अपेक्षा व्यक्तिव्यंजक नाम को अधिक समावेशक और व्यापक मानता हूँ। कुछ लोगों ने आत्मव्यंजक नाम शब्द भी सुझाया है। पर आत्मव्यंजक इसलिए उतना उपयुक्त नहीं है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति ही आत्मव्यंजक होगी क्योंकि आत्म शब्द में आत्मा की अवधारणा में सम्पूर्ण चैतन्य आता है और व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की एक सीमा है, इसमें व्यक्ति का उतना ही प्रमाता अंश सर्जन के लिए स्वीकार्य है, जितना वह समस्त रागाकुलता से संतप्त है। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध व्यक्ति का वाचक नहीं है अर्थात् उसमें व्यक्ति मुख्य रूप में उपस्थित नहीं रहता, वह सतह पर उपस्थित नहीं रहता, वह सतह के नीचे रहता है। वह व्यक्ति का व्यंजक है अर्थात् व्यक्ति के वे अंश, वे अनुभव, जो उसके घेरों के कारण उन्मीलित नहीं होते, अब साझेदारी की दुर्निवार आकांक्षा से उन्मीलित होना चाहते हैं तब व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की रचना होती है।

अधिकांशतः लोग यही समझते हैं कि हिन्दी व्यक्तिव्यंजक निबन्ध की प्रेरणा का मूल स्रोत अंग्रेजी 'पर्सनल एसे' (Personal Essay) है और थोड़ा बहुत उत्तर काल में बंगला। किन्तु हिन्दी के व्यक्तिव्यंजक निबन्धों की अपनी कुछ मौलिक परम्पराएँ है, जो हिन्दी की प्रकृति के स्वतन्त्र विकास का ही प्रमाण देती हैं। साथ ही, हिन्दी साहित्य प्रारंभ से विविध प्रकार के और विविध स्रोतों के प्रभाव ग्रहण करने मे बहुत मुक्त रहा है, पर हिन्दी साहित्य का अपना एक स्वतंत्र स्वर है और समस्त प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी इसी स्वर को मुखर करने में हिन्दी के सचेत लेखक और कवि ने बहुत कौशल के साथ बराबर विनियोजित किया है। इसीलिए यदि वास्तव में हिन्दी के व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध साहित्य का मूल हम ढूँढ़ना चाहे तो एक ओर हमें उन वैदिक एवं पौराणिक स्तुतियो एवं आख्यानों की ओर जाना चाहिए, जहाँ मनुष्य देवता की सन्निधि में आने के लिए या देवता मनुष्य की सन्निधि में आने के लिए 'मैं'-'तुम' सम्बन्ध में आबद्ध दिखाई पड़ते हैं, या जहाँ 'मैं' अनुभव प्रमाता के रूप में कथाकार और कथानायक दोनों बनकर आता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी का 'मैं' 'हम' का विरोधी नहीं है और यहाँ

पश्चिम के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध से हिन्दी के व्यक्तिव्यजक निबन्धो का मूलत: स्पष्ट भेद दिखाई देता है। पश्चिम का 'मैं' 'हम' के विरोध मे स्पष्ट खड़ा है। उसमें 'मैं' की कोर बड़ी तीव्र है। इसलिए वहाँ के व्यक्तिव्यजक निबन्धो में अनुभव की अद्वितीयता और एकान्तनिष्ठता पर विशेष बल है, जबकि ठीक इसके विपरीत कुछ एक अपवादो को छोड़कर हिन्दी के व्यक्ति-व्यजक निबन्धो का 'मै' 'हम' के अनुभव का एक शक्तिशाली माध्यम मात्र बन कर उपस्थित होता है। उसमे अकेलापन होते हुए भी 'हम' का आह्वान करने की क्षमता है। 'हम' के विरोध मे चुनौती देने के लिए वह खड़ा नही होता। यह 'मै' समस्त जातीय चेतना का सग्राहक और अनुभविता बनकर प्रस्तुत होता है।

साहित्य की विधा के रूप म हिन्दी व्यक्तिव्यजक निबन्ध सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श की कथा—विशेष रूप से 'आख्यायिका' का ही उत्तराधिकारी है और वह इसलिए प्रकृति एव मानव-जीवन मे एक बिम्बानुबिम्ब-भाव देखने का अभ्यासी हे। यह बात पश्चिम के प्रकृतिपरक व्यक्तिव्यजक निबन्धो मे भी नही मिलती। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण उस व्यक्तिव्यजक निबन्ध साहित्य मे जरूर मिलता है और प्रकृति मे रमने की उत्कण्ठा भी मिलती हे किन्तु प्रकृति के साथ जैसा गहरा तादात्म्य और प्रकृति मे घटित होने वाले परिवर्तनो मे मानव-जीवन-सवत्सर का जैसा आवर्तन देखने का भाव हे, वैसा पाश्चात्य निबन्ध साहित्य मे नही, क्योंकि हिन्दी निबन्ध साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि मे तीन विशेषताएँ है : पहली-अखण्ड विश्व दृष्टि, दूसरी, मुक्त निबध फक्कड़ भाव और तीसरी सामान्य मे निगूढ़तम वैशिष्ट्य की तलाश। हिन्दी व्यक्ति-व्यजक निबन्ध साहित्य मे ये तीनो ही वस्तुएँ वैचारिक पीठिका के रूप मे मिलती है। इसी माने मे वह पश्चिम से ऊपरी सतह पर प्रभावित होते हुए भी भीतर से एकदम विलग है।

इस वैचारिक पीठिका को भूलकर शैली को ही लोग निबन्ध मान लेते है और विचार को निबन्ध के लिए गौण मान लेते है, ऐसे लोग ये मान लेते है कि विचारप्रधान निबन्ध की एक अलग कोटि होती है, व्यक्तिव्यजक निबन्ध की अलग कोटि होती है, दोनो परस्पर व्यतिरेकी कोटियां है, पर वे एक बात भूल जाते है कि सर्जन के क्षण मे विचार और भाव मे विश्लेष या विलगाव असम्भव है। सर्जनात्मक साहित्य भाव और विचार का ऐक्य मात्र है। विचारप्रधान निबध भी सर्जनात्मक हो सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध विचार-प्रधान होते हुए भी सर्जनात्मक है। भारतीय दर्शन मे अनेक ऐसे ग्रन्थ है जो दूसरे ग्रन्थो की टीका होते हुए

भी सर्जनात्मक गद्य हैं। उदाहरण के लिए शांकर भाष्य, न्यायमंजरी, प्रमाण-वार्तिक, स्याद्वाद-मंजरी। विचार-प्रधान निबंध में भी भावना तिरोहित नहीं होती, उसका एक भिन्न प्रकार का बौद्धिक संस्कार होता है। वहाँ समस्त रागात्मकता बुद्धि-रूप में परिणत हो जाती है। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध में सम्पूर्ण विचारात्मक प्रज्ञा भाव-रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार दोनों में ही भाव भी हैं, विचार भी है। साध्य-साधन के रूप में दोनों की भूमिका अलग-अलग है। दूसरा अन्तर दोनों में यह है कि व्यक्तिव्यंजक निबन्ध तर्क से मनवाने की कोशिश नहीं करता, विचार-प्रधान निबन्ध के लिए तर्क एक प्रधान साधन है, चाहे वह तर्क से यही सिद्ध करे कि बहुत कुछ शेष रह जाता है, जो तर्क से परे है।

व्यक्तिव्यंजक निबन्ध को शैली के साथ इसलिए भी लोग अब जोड़ देते हैं कि ऐसे लोगों के मन में एक घिसी-पिटी व बार-बार दोहरायी पंक्ति है कि शैली लेखक का व्यक्ति स्वयं है—(Style is the man himself)। परन्तु यह बात केवल इसी अंश तक सत्य है कि रचनाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में अभिव्यक्ति के जिन संकटों से गुज़रा होता है, उन संकटों से जूझने के कारण उससे भाषा के माध्यम से व्यक्तित्व मे एक निखार आता है, वही उसकी शैली बन जाता है या और ठीक-ठीक कहें निरन्तर शैली बनता रहता है, क्योंकि शैली कोई सिद्ध वस्तु नहीं है, वह एक रचनाकार का सर्जन-प्रक्रिया है। जो लोग व्यक्तिव्यंजक निबध में केवल शैली की तलाश करते हैं और यह मानकर चलते है कि ये निबन्ध विचार-प्रधान निबन्ध से अलग कोटि में आते हैं क्योंकि इनमें विचार बहुत कम रहता है, विचार के बहाने केवल मनोरंजन तथा हल्की चुटुकुलेबाज़ी, काल्पनिक उड़ान, बेतरतीब बातचीत, ये चीजें ज्यादा रहती है, वे रचनात्मक साहित्य की मूलभूत प्रयोजकता ही भूल जाते है।

व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार का भाषा मे सरोकार कुछ इसलिए ज्यादा हो जाता है कि उसे तलवार की धार पर चलना पड़ता है, उसके सामने सबसे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार बिना सामने देखे हुए भी श्रोता को देखे और किस प्रकार उस श्रोता से घरू स्तर पर बातचीत करे, बिना इस बातचीत का सहारा लिए वह सम्प्रेष्य नहीं हो सकता और अदृश्य पारावार सरीखे श्रोता के साथ बातचीत के सम्बन्ध को स्थापित करने में समर्थ भाषा आसानी से सधती नहीं है। या तो लेखक एकदम हलकी-फुलकी बात कहने तक चुक जाता है, या उसकी आत्मीयता भी एक आतंक बन जाती है, वह एकदम गरिष्ठ होकर सिर पर छा जाता है, इन दोनों अतिरेक के छोरों

से बचते हुए चलना तलवार की धार पर ही चलना है। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध में बहकने, बहकाने, बात को घुमाने, उसको कहीं से कहीं तक पहुँचाने और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्द मे बतरसने का सहारा लिया जाता है, वह इसलिए नहीं कि बहकाना या बतरसना अपने आप में उद्देश्य है, बल्कि इन सबका एक ही उद्देश्य है कि पाठक इनके द्वारा आत्मीयता की डोर मे बँध जाए और साथ आ जाए, उसके साथ ऐसी अन्तरंग आत्मीयता स्थापित हो जाए कि लेखक का परिवेश उसका परिवेश हो जाए, लेखक के साझे की कहानियाँ उसके साझे की कहानियाँ हो जाएँ, उसके सामने उसकी देखी, उसकी अधदेखी, उसकी अनदेखी घटना आ जाए और प्रत्येक दशा मे उसे ऐसा लगे कि हमको दिखाया नहीं जा रहा है, हम स्वयं देख रहे है, इसलिए एक ओर तो निबन्ध-लेखक सामान्य दैनन्दिन जीवन की बड़ी सामान्य घटना बड़े सामान्य अनुभव से बात शुरू करेगा, दूसरी ओर यह बात हलकी न हो जाए, इसलिए ऐसे बड़े सन्दर्भों से भी जोड़ेगा, जो उसके पाठक की जातीय स्मृति मे अंकित हो, वे सन्दर्भ उसके साहित्य के हो, कला के हो या लोकवार्ता के हो।

उदाहरण के लिए पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'कुटज' निबन्ध लिया जाय। वे शुरू यहाँ से करते है—'कुटज' का फूल अधिकतर ने देखा नहीं है। एकाध ने देखा भी होगा तो भर आँख नहीं देखा होगा और तब वे ले जाते है, कुटज के फूल तक और उसके ऐसे-ऐसे गुण बखानते है कि पाठक को लगने लगता है, कि यह तो सचमुच बड़ी नायाब चीज है। हमारा इससे परिचय पहले क्यो नहीं हुआ! खूब तो खिलता है ज्योंही बरसात आती है, खूब तो खिलता है, जहाँ ऊसर जमीन होती है, कोई रस नहीं होता, जहाँ पथरीली जमीन होती है, नाटा-सा पेड़ फूलता है तो कितना सुन्दर! पण्डित जी को यह विश्वास हो जाता है कि पाठक अब हमारे साथ हो गया, वे उड़ जाते है। कालिदास का यक्ष बादल को जिस फूल से अर्घ चढ़ाता है वह कुटज है और इस एक सूत्र से लेखक पाठक के मन मे उत्सुकता की भावना पैदा कर देता है, और पडित जी इस मनुष्य को लाते है, जो कभी हार नहीं मानता, कठिन से कठिन परिस्थितियों में कहीं भी रहता है खड़ा रहता है, फूलता रहता है, तना रहता है, सबके उल्लास मे उल्लसित रहता है, कुटज मनुष्य बन जाता है, मनुष्य कुटज बन जाता है। कविता मे यही बात दूसरी प्रकार से भी व्यक्त की जा सकती थी, पर कविता व्यक्तित्व को विखण्डित करके ही बात को उपस्थित कर सकती थी जबकि निबन्ध व्यक्तित्व को साथ लिए चलता है, पर खण्डित रूप में नहीं, छँटे हुए रूप में, तराशे हुए रूप में। व्यक्ति का विलय नहीं होता, न उसके

वैयक्तिक अनुभव का महत्त्व कभी कम होता है, उसके परिवेश के शब्द, कथानक, स्मृतियाँ, गूँजें निरन्तर आत्मीय सम्बन्ध की स्थापना में सहायक होती हैं। दूसरे शब्दों में विशेष के अभिव्यंजन के द्वारा ही सामान्य आता है, और इस प्रकार विशेष की प्रतीति अत्यंत घरू ढंग से की जाती है कि वह विशेष सबका विशेष हो, लिखनेवाले का ही नहीं, जिसके लिए लिखा गया है, उसका भी।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया था—व्यक्तित्व को साथ लिए चलना और हाथ अलग किए चलना निबन्धकार के लिए आवश्यक है। वह अपने व्यक्तित्व के साथ हँसी मजाक कर सकता है, उसे कोस सकता है, उसे बिसूर सकता है, पर उसे छोड़ नही सकता। उसके लिए व्यक्तित्व वैयक्तिक स्तर का सम्बन्ध स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम है। व्यक्तित्व के साथ यह सलग्नता कि वह माध्यम है, बड़ी कठिन प्रार्थना है, साधना से आती है। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध लिखनेवाले हिन्दी में इसलिए थोड़े हैं और जो हैं वे व्यक्तिव्यजक निबन्धो के अलावा भी कुछ लिखते रहते है व्यक्तिव्यजक निबन्धकार के रूप मे मेरा निज का अनुभव यह है कि निबन्ध जल्दी लिखा नही जाता।

इसी सन्दर्भ मे, लोग 'मूड' की बात भी करते है। 'मूड' आने पर ही व्यक्तिव्यंजक निबन्ध लिखा जा सकता है। पर जहाँ तक मेरा अपना अनुभव है, 'मूड' आने पर केवल कविता या छोटी कहानी ही लिखी जा सकती है। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध के लिए एक भीतर की घुमड़न जरूरी होती है। वह घुमड़न बार-बार होती रहे, कई दिनो तक मन को उन्मथित करती रहे और लिखने की लाचारी उपस्थित हो जाय, यह पहली शर्त है निबन्ध-लेखन की। दूसरी शर्त है—सामान्य जीवन की एक छोटी-सी घटना जब व्यापक सामाजिक सन्दर्भ से और उससे भी आगे जाकर विश्व-चेतना के किसी तार से जुड़ जाय और एकसाथ सभी तार झकृत हो सके, ऐसा सामजस्य बुद्धि में उपस्थित हो जाय। एक तीसरी शर्त भी है—सब कुछ न कहे जाने का लोभ संवरण करने की क्षमता हो, क्योंकि निबन्धकार रिपोर्टर नही है। उसके मन में यह लोभ तो जरूर उठता है कि कितना कुछ कह जाय। किन्तु यदि वह समर्थ निबन्धकार है तो उसमें से कुछ छाँट देता है। जैसे कि एक समर्थ उपन्यासकार जीवन की समग्र घटना को लेते हुए भी बहुत से अनावश्यक सन्दर्भ छोड़ता रहता है और बहुत से असम्बद्ध दिखनेवाले पर भीतर से जुड़े हुए बाहर के संदर्भ जोड़ता रहता है, उसी प्रकार एक व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार प्रस्तुत के विषय में सब कुछ न कहकर दूर अप्रस्तुत से उसको जोड़ने के लिए केवल उन्हीं अंगों को उभारता है, जो व्यापकता और गहराई लिए हुए हैं।

निबन्धकार के लिए इसलिए आवश्यक है कि वह बहुश्रुत हो। बहुश्रुत का अर्थ किताबी कीड़ा या पढ़ीस नहीं। बहुश्रुत का अर्थ है कि वह ज्ञान के विविध स्रोतों से रस ग्रहण करनेवाला हो और उन विभिन्न प्रकार के रसों में एक प्रवाहशीलता देखनेवाला हो। कोरे पाण्डित्य से निबन्ध नहीं लिखा जा सकता। एक अनपढ़ आदमी भावोच्छ्वास मे केवल सुने-सुनाये संस्कारों के बल पर गीत-रचना कर ले, लम्बे आख्यान भी रच डाले, वह निबन्ध नहीं लिख सकता। निबन्ध मे अनुभव की यात्राओं के संदर्भ अपरिहार्य सूत्र है। कहीं-कहीं वे सूत्र साहित्य या कला या लोक-सस्कृति के संदर्भ में जुड़े होते है, कही-कहीं ये समसामयिक घटना से या उसकी व्याख्या से या उसके सम्बन्ध में किसी वक्तव्य से। केवल ग्रन्थ ही से जुड़े हुए सन्दर्भ रहें तो निबन्धकार उबाने लगता है और ग्रन्थ या सस्कृति का सम्बन्ध सदर्भ बिल्कुल न हो, तो निबन्ध एकदम हलका हो जाता है। उसके शाश्वत मूल्य तिरोहित होने लगते है। लेकिन वे सूत्र अपने आप में महत्त्व नही रखते, महत्त्व रखता है इन्हें जोड़नेवाला इनका काम। किस प्रकार और किनको वे जोड़ सकते है, ये अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए निबन्ध की जान सूत्रों को बटोरना नहीं, या सुलझाना नही, सूत्रों के द्वारा सयोजन-कौशल उपस्थित करना ही है।

निबन्ध मे सन्दर्भो का दुरुपयोग हो सकता है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के इस खतरे से तभी बचा जा सकता है जब निबन्धकार के मन में यह भाव हो कि सन्दर्भ देने एक मात्र उपयोग यह है कि निबन्धकार जिस एकीकृत भाव-बोध की ओर पाठक को ले जाना चाहता है, वह उसका नहीं है, समूची संस्कृति का है, पाठक की समूची अस्मिता का वह अग है। उस भाव-बोध मे कहीं कालिदास है, कही तुलसीदास हैं, कही अनाम कवि हैं, कहीं ऊपर से पागल दिखनेवाला कोई धुनी आदमी है, कहीं बहुत पढ़ा-लिखा विद्वान है, पर उन सबके माध्यम से समूचे जीवन की सारी विडम्बनाएँ और संभावनाएँ मिलकर एक सघन भाव-बोध की ओर इशारा करती हैं। संदर्भ इसलिए गूँज नही होते, ये निबन्ध के लिए ताने-बाने का काम करते हैं; समकालीन सन्दर्भ को ताना समझ लीजिए और ऐतिहासिक सन्दर्भ में फैले सन्दर्भ को बाना समझ लीजिए। संदर्भ कहाँ से लिया गया है—इसका विवरण देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि निबंधकार का उद्देश्य पाठक को सन्दर्भ की ओर ले जाना नहीं है, सन्दर्भ को अभीष्ट भाव-बोध की ओर लाना है। ये सन्दर्भ तभी ज्यादा प्रभावशाली होते हैं, जब लेखक के व्यक्तित्व में पूरी तरह समोये हुए होते हैं, यदि लेखक इन्हे सायास कहीं से उठाता है तो सन्दर्भ बोझ हो जाते हैं, लेखक को बराबर सावधानी बरतनी होती है कि वह अपने मे समोये हुए सन्दर्भों के स्नायु-

तन्तुओं को उजागर करे, अपने को उजागर न करे। अपने परिवेश को मुखरित करे, जिससे कि हर पाठक को अपने परिवेश की स्मृति आ जाए और अपने को प्रतिक्षेपित या 'प्रोजेक्ट' न करे।

निबन्ध की बुनावट के सम्बन्ध में कुछ और विन्दु हैं। व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार के सम्बन्ध में प्रचलित वहुत सारे भ्रमों में एक भ्रम यह भी है कि वह निबन्ध लिखने के लिए जिस बात का बहाना ढूंढ़ता है; उस बात में उसकी कोई खास दिलचस्पी नहीं रहती। बल्कि उस बहाने के बतरसने (बातचीत का सिलसिला बिना ओर-छोर के बढ़ाने) में उसकी दिलचस्पी ज्यादा रहती है। पर ध्यान से यदि निबन्ध पढ़ा जाए तो पता चलेगा कि यह बात बढ़ाना नहीं है। वह बात किसी न किसी रूप में बराबर आघात करती रहती है और उस आघात को ओढ़ने के लिए निबन्धकार अपने भीतर के जाग्रत संस्कारों की गुहार लगाने लगता है और गुहार की तीव्रता उस बात को, ऐसा लगता है, दबा देती है। पर निबन्ध के अन्त तक यह बात दबती नहीं हैं। किसी न किसी रूप में चाहे समानांतर बात के रूप में ही क्यों न हो, बराबर उभरती रहती है। इसीलिए शैली के स्तर पर निबन्ध मे एक विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वह है, एक खास वर्ण्य-विषय की बार-बार अनुस्मृति। यह ऊपर से भले ही पुनरुक्ति लगे, लेकिन भीतर से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह पुनरुक्ति नहीं, अतिरिक्त बल देने की लाचारी है।

व्यक्तिव्यंजक निबन्ध केवल सतह पर तर्कहीन होता है, अन्यथा उसमें सतह पर तर्क होता है, उसमें सतह पर तर्क का उपहास होता है, कुतर्क का उपयोग होता है, उसमे अनर्गल तर्क दिये जाते हैं पर यह सब इसलिये कि पाठक महसूस करने लगे कि इस तर्क के स्तर से भिन्न सगति की तलाश करनी चाहिए। एक उदाहरण ले अज्ञेय का 'मार्गदर्शन' निबन्ध। आदमी रास्ता पूछ रहा है, कोई भी ठीक रास्ता नहीं बताता, जो बताता है, वह रास्ते के उस ओर इशारा करता है, जहाँ जाना नही है। मार्गदर्शन के अलावा सारी चीजें है, मार्ग का अदर्शन ही सब कुछ हो जाता है। 'मार्गदर्शन' निबन्ध, मार्गदर्शन प्रश्न-चिह्न बनकर रह जाता है। पाठक को अपने आप एक अन्विति दिखती है कि इस सारी उलझन और परेशानी में एक ही प्रतीयमान है कि मार्ग का दिखना कठिन है, इसीलिए ऐसी अन्विति अगर केन्द्र में नहीं रहती तो निबन्ध अपने प्रयोजन से च्युत हो जाता।

बुनावट का ही एक और बिन्दु है शब्द-चयन। द्विवेदी जी के शब्दों में धक्कामार भाषा या मना लेनेवाली भाषा प्रस्तुत करने के लिए शब्दो के नये जोड़-तोड़ अपरिहार्य होते है। कुछ शब्द ऐसे गढ़े जाते हैं कि साफ़ लगता है कि इसमें गढ़नेवाले की शरारत है, लेकिन वह शरारत अच्छी लगती है,

क्योंकि उस गढ़ने की प्रक्रिया में भाषा का एक गहरा सस्कार निहित रहता है, वह गढ़ना मनुष्य की सन्धिनी शक्ति से सम्भव होता है, जो किसी संज्ञा को क्रिया बनाती है, किसी क्रिया को सज्ञा बनाती है, जो ठेठ भदेसी शब्दो को कभी ऊँचा आसन देती है, कभी प्राचीन सस्कृति के बिसरे शब्दों को नये आलोक से मण्डित करती है। इस सन्धिनी शक्ति का विकास निबन्धकार का बहुश्रुतता से अपने आप सध जाता है। और तब शब्द-चयन सायास नही लगता। शब्द-चयन का वास्तविक प्रयोजन सम्पूर्ण रागात्मक स्मृति का उद्बोधन है। इसलिए जहाँ हम बुनावट के स्तर पर शब्द-चयन के बिन्दु को महत्त्व दे रहे हैं, वहाँ इस पर भी बल देना चाहेंगे कि निबन्ध की बनावट के लिए अपनी सस्कृति की पहचान और सम्पूर्णता मे उसकी पहचान आवश्यक है, दूसरी विधाओं से कही अधिक आवश्यक।

हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर अब तक व्यक्तिव्यजक निबन्ध लिखे जाते रहे है। जो भी कृतित्व सामने उभरे है, उनमें समान रूप मे कुछ चीजे मिलती है निस्सग फक्कड़पन के साथ-साथ आस-पास के जीवन से गहरी सम्पृक्तता, भाषा के सभी धरातलो पर उसकी सम्भावनाओं की खोज और नयी भाषा की रचना का उत्साह (सामने उपस्थित भाषा मे से नयी भाषा रचने का उत्साह), जो नये शब्दों के गढ़ने, पुराने शब्दो को नया अर्थ देने और अत्यन्त सामान्य जीवन के वाचक शब्दों को या अत्यन्त सामान्य मुहावरों को विशेष दीप्ति से दमकाने में सलक्ष्य होता है तथा आधुनिक बोध, जो सम-सामयिक चेतना को कालातीत चेतना के साथ जोड़ने का सकल्प लेकर ही उपस्थित होता है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, माधव मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह जैसे पिछले लेखक और श्रीनारायण चतुर्वेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, और उनके बाद के लेखक, सभी ऊपर की विशेषताओ के किसी न किसी अनुपात मे साझीदार है, और ये सभी रचनाकार के रूप में अपनी रचना के प्रति बहुत सजग कलाकार हैं, साथ ही ये सभी जीवन के बहुरूपी अनुभव के प्रमाता होने के कारण जीवन मे भी उतने ही रमे हुए है, जितना अपने साहित्य बोध मे, इसलिए इनके कृतित्व मे एक सतरंगीपन भी है। हिन्दी का व्यक्तिव्यजक निबन्धकार दूसरी साहित्य विधाओं के रचनाकारों से केवल इस माने मे विशिष्ट है कि वह बहुत आत्मीय है। वह हिन्दी के पाठक के साथ बैठकर उसके समूचे घरू परिवेश में रमकर देखता है। उसकी उदासी भी अजनबी की उदासी नहीं है (वैसे कौन साहित्यकार अजनबी नही होता)। उसकी उदासी एक गहरी सवेदना की उदासी है, और उसकी खुशी रस्म-अदायगी नही, समष्टि की उल्लसित चेतना का ज्वार है।

1

अद्भुत अपूर्व स्वप्न

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते में सोचता हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस ससार मे नाम स्थिर रहने को कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो वृथा स्वाँस मति खोय।
ना जानें या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जाएगा। काल-वश शशि-सूर्य भी नष्ट हो जाएंगे। आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। केवल कीर्ति-कमल ससार सरोवर में रहे वा न रहे और सब तो एक न एक दिन तप्त तवे की बूंद हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचारा कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परन्तु थोड़ी ही देर में समझ मे आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार इसमे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और वह तो मुझे भलीभाँति मालूम है कि यही अंग्रेजी शिक्षा रही तो मदिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले, क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट 'क्रिटिक' काट कर आधी से अधिक निगल जायेंगे। यश के स्थान, अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आँखें बंदकर शंभु की समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गए। अंत में एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गई। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का

विचार दृढ किया। परंतु जब बड़ी थैली मे हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकली। आप जानते हैं इतने मे मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नही बन सकता था। निदान अपने इष्ट-मित्रों की सहायता लेनी पडी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ, जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईटों के और मोहर चिनवा लेते तब भी तो दश पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमे जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नही है, परन्तु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी मे पड़े थे। बनने को तो एक क्षण मे सब बन गया था, परन्तु उसके काम जोड़ने में पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कदराओ मे से खोज-खोजकर अनेक उद्दंड पंडित बुलवाए, जिनकी सख्या पौन दशमलव मे अधिक नही है। इस पाठ्शाला मे अगणित अध्यापक नियत किये गये परंतु मुख्य केवल ये है पंडित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति प्रथम अध्यापक। पं. खट-पिट धर्माधिकारी, अध्यापक धर्म शास्त्र। प्राणांतक प्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यक शास्त्र। लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण, अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितो के आ जाने पर अर्धरात्रि गये पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रो के सन्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो ससार को बनाकर क्षण भर मे नष्ट कर देता है और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणो से इस ससार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सन्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशसा करते है, जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पडी। उस ईश्वर को ही अगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे नही तो जब द्रव्य की खोज मे समुद्र मे डूबते-डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोल-कल्पना सत्य हो जाएगी। परंतु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब सकट दूर हुए और अंत समय, हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रो की सहायता को कभी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया और दस-पाँच पीढी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र-परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनो यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन-मन से आप इस धर्मकार्य में प्रवृत्त हुए। नहीं तो मैं दो हाथ पैर वाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन दौड़ा था, जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहाँ तो केवल घर की मूंछे ही मूंछें थी। कुछ मेह, कुछ गंगाजल,

काम आपकी कृपा से भलीभाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अकुर फिर हरे किए। हे सुजन शुभचिंतकों ! ससार में पाठशाला अनेक हुई होगी। परतु हरिकृपा से जो आप लोगो की सकल-पूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नही कि अपने इस जन्म मे न देखी हो। होनहार बलवान हैं, नही कलिकाल मे ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए यह हम लोगो के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री विना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग की आदि मे इद्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और वन-जगलो मे खोजता फिरा, अत मे हार मान बृहस्पति को रखना पडा। हम फिर भी कहते है कि यह हमारे भाग्य ही की महिमा थी कि वे ही पडित-राज मृगयाशील श्वान के मुख से शश के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कदरा मे पड गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशसा करते दिन मे सरस्वती भी लजाती है। इसमे सदेह नही कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पडित मूर्ख और अबोध पडित हो जायेंगे। हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे है, इनका नाम पडित पाखडप्रिय है। किसी समय इस देश मे इनकी बडी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषो को इन्होने मोह रक्खा था। परतु अब कालचक्र के मारे अंग्रेजी पढ़ हिंदुस्थानियो ने इनकी बडी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई मे हरित दूर्वा पर सतोष कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान शृगाल के सग दिन काटने पड़े, परतु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग स्थित रह जाने देंगे तो हरिकृपा से समस्त नवीन धर्मो पर चार-पाँच दिन मे पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न पडित प्राणांतक प्रसाद भी प्रशसनीय पुरुष है। जब तक इस घट मे प्राण है तब तक न किसी पर इनकी प्रशसा बन पड़ी, न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त ससार मे विख्यात है। चिकित्सा मे ऐसे कुशल है कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नही भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो क्षण भर मे स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नही देते केवल उसी समय तक प्राणी को समारी व्यथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए, इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायेगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परंतु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप

आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दंड पंडित हैं। ज्योतिष विद्या में अति कुशल हैं, कुछ नवीन तारे भी गगन मे जाकर ये ढूँढ़ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रन्थो की भी रचना कर डाली है। उनमें 'तामिस्रमकरालय' प्रसिद्ध और प्रशसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परंतु तारे इनकी आँखों में भलीभांति बैठ गये है।

रहे पडित शीलदावानल नीतिदर्पण! इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा-सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बालब्रह्मचारी है। अपने आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढी थी, परंतु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अंग्रेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते है। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें। ऐसा तो संयोग इस ससार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनो से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लड़कों को भेजे और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देगे नही और दिया भी तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बधान बांध देगे नही यह नियत कर देगे कि जो पाठशाला सबधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर न।., लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था, वह आज रात को हम घर पूछ ले तब कहेंगे।

नियमावली

(1) नाम बस पाठशाला "गगनगत अविद्यावरुणालय" होगा।

(2) इसमें केवल वध्या और विधवा के पुत्र पढने आवेगे।

(3) डेढ़ दिन से अधिक और पौने अट्ठानबे से कम की आयु के विद्यार्थी भीतर न आने पावेंगे।

(4) सेर भर सुँघनी अर्थात् हुलास से तीन सेर कक्षानुसार फीस देना पड़ेगा।

(5) दो मिनट बारह बजे रात से पूरे पाँच बजे तक पाठशाला होगी।

(6) प्रत्येक उजाली अमावस्या को भरती हुआ करेगी:

(7) पहले पक्ष में स्त्री और दूसरे पक्ष में बालक शिक्षा पावेंगे।

(8) परीक्षा प्रतिमास होगी, परंतु द्वितीया द्वादशी की सन्धि में हुआ करेगी।

(9) वार्षिक परीक्षा ग्रीष्म ऋतु माघ मास मे होगी। उसमे जो पूरे उतरेंगे वे उच्च पद के भागी होगे।

(10) इस पाठशाला मे प्रथम पाँच कक्षा होंगी और प्रत्येक ऋतु के अन्त मे परीक्षा लेकर नीचे वाले ऊपर की कक्षा में भर दिए जायेंगे।

(11) प्रतिपदा और अष्टमी भिन्न एक अमावस्या को स्कूल और खुलेगा, शेष सब दिन बद रहेगा।

(12) किसी को काम के लिए छुट्टी न मिलेगी, और परीक्षा होने मे पाँच मिनट मे दो बार नाम कटेगा।

(13) कुछ भी अपराध करने पर चाहे कितना भी तुच्छ हो 'इडियन पिनल कोड' अर्थात् ताजीरात हिंद के अनुसार दड दिया जाएगा।

(14) मुहर्रम मे एक साल पाठशाला बद रहेगी।

(15) मलमास मे अनध्याय के कारण नृत्य और सगीत की शिक्षा दी जाएगी।

(16) छल, निंदा, द्रोह, मोह आदि भवसागर के चतुर्दश कोटि रत्न घोल कर पिलाया जाया करेंगे।

(17) इसका प्रबध धूर्तवशावतस नाम जगतविदित महाशय करेंगे।

(18) नीचे लिखी हुई पुस्तकें पढाई जाएँगी—

व्याकरण—मुग्धमजरी, शब्दसहार, अज्ञानचन्द्रिका।

धर्मशास्त्र—वचकवृत्तिरत्नाकर, पाखड-विडबन, अधर्मसेतु।

वैद्यक—मृत्युचितामणि, मनुष्यधनहरण, कालकुठार।

ज्योतिष—मुहूर्तमिथ्यावली, मूर्खाभरण, गणितगर्वांकुर।

नीतिशास्त्र—नष्टनीतिदीप, अनीतिशतक, धूर्तपचाशिका, इन दिनो की सभ्यता के मूल ग्रन्थ असत्यसहिता, दुष्टचरितामृत, भ्रष्टभास्कर।

कोश—कुनशब्दकल्पतरु, शून्यसागर।

नवीन नाटक—स्वार्थसग्रह, कृतघ्नकुलमडन।

अब जिस किसी को हमारी पाठशाला मे पढना अगीकार हो, यह समाचार सुनने के प्रथम, तार में खबर दें। नाम उसका किताब में लिख लेंगे, पढ़ने आओ चाहे मत आओ।

2

बनारस का बुढ़वा मंगल

—बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन'

अवश्य यह अपूर्व और अनोखा मेला काशी के गौरव और गर्व का हेतु है, क्योंकि हम जानते है कि इस चाल का दूसरा मेला न कदाचित् भारत भर ही मे वरच सारे संसार में भी कही नहीं होता होगा, इस कौतुक-प्रिय लोगो के लिये इसे एक बार देख लेना मानों एक मुख्य विषय है, और नृत्य-गान-रूप रसिक प्रेमियो के लिए तो निःसंदेह यह अवसर अलभ्य लाभ का वा यों भी कहिए कि यह काल करालकाल ही है जैसा कि किसी ने कहा है 'डूब जाये कही गगा में न काशी वाले, नौजवानों का सनीचर है ये बुढ़वा मंगल।'

यद्यपि हमारी आँखों में अब न यह काशी है, और न वह बुढ़वा मगल, क्योंकि न वे लोग है, न वह समय, न वे अपने मित्र, न वह मण्डली, न वह अपना सामान, न वह ममत्व और न मन का वह उत्साह है, न अपने को किसी से मिल बैठने का चाव, और न अपने में किसी का वह अभिन्न भाव, न उस उत्कण्ठित और अकृत्रिम चित्त से किसी का स्वागत और सत्कार की लालसा, और न अपने को उस आनन्द अनुभव को कभी भूलने की आशा है। हाँ! कुछ बहुत दिन की बात भी नहीं है मानों अभी कल काशी के अमल आकाश का चन्द्र वह प्यारा हरिश्चन्द्र—जिसे लोग भारतेन्दु भी कहते हैं, प्रकाशित था, और काशी प्रभा-पुंज प्रकाश सी दिखलाई पड़ती थी, जो उसके अस्त होने से आज अधकार राशी-सी हो गयी। यद्यपि बड़े-बड़े और ऊँचे स्थान के रहनेवाले नक्षत्र तुल्य असंख्य सज्जन, और सूर्य तुल्य अन्य अनेक महानुभाव अद्यावधि यहीं विद्यमान है, परन्तु वह प्रकाश, वह मनोहरता, वह सुधा-सिंचन-शक्ति कहाँ है। नवीन व सामान्य जनों के लिए काशी वही है, बुढ़वा मंगल भी वैसा ही होता है, परन्तु हाँ, जिसके चित्त पर उस चन्द्र के चन्द्रिका की चमक पड़ी है और सुधा-सीकर का स्पर्श हुआ है उनके लिए अवश्य ही वह बनारस बिना रस है। यों तो अब भी राजघाट से अस्सी तक उसी भाँति

सजी-धजी सहस्रावधि नौकाएँ दृष्टिगोचर होती है परन्तु प्राय: अचल भाव से भोसलाघाट पर स्थित रहनेवाली वह नौका, जिसकी लाल पताका फहराती हुई, 'मंगलायतनो हरि:' की पुकार करती थी वहाँ है, जिसके चारों ओर दर्शकों से भरी असंख्य किश्तियाँ घेरे पड़ी रहती थीं और जहाँ निरन्तर आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता था, जिस पर बैठे आनन्द-निमग्न लोग भूख प्यास भूले, निद्रा की सपथ खाये, यह नहीं समझ सकते थे कि कब सन्ध्या वा अर्धरात्रि हुई अथवा प्रभात वा दोपहर हुआ। वहाँ हर घडी नयी सभा बनी रहती थी, और कोई क्षण ऐसा न आता कि जब उटने व सोने को जी चाहता, सच तो यह है तवायफ़ों के नाच में पार्श्ववर्ती दोनों भाँड़ों की प्रशसा में, जो क्रमश: इस रूप में होती थी, 'यह चाल ही कुछ और है," यह बात ही कुछ और है, यह तर्ज़ ही कुछ निराली है, यह "कैंड़ा ही कुछ जुदागाना है" "यह रविश ही कुछ और है," "यह चासनी ही कुछ दूसरी है," सबको मुग्ध करती थी यह दशा कदाचित् इनकी दशा का यथार्थ चित्रण हो, परन्तु भारतेन्दु की सभा पर तो यह पूर्णतया चरितार्थ होता ही है।

सुन्दर सुसज्जित उस विशाल नौका पर बीसों तवायफ़ों का जमघट, जिसमें न केवल रडियाँ ही, वरच भांड़ और कथक तथा अन्य अनेक प्रकार के गुणियों का सग्रह रहता है कि जिसमें कोई भी काटने वा छाँटने योग्य नहीं जो खड़ा हुआ बस सबके मन को अपने हाथ में लिया। यदि किसी वार-विलासिनी की रूप राशि और सौकुमार्य मन को विह्वलकारी, तो किसी के यौवन की शोभा हावभाव और कटाक्षादि चित्त को चूर्ण करने में समर्थ, यदि किसी का गाना कहर का, तो दूसरे का बताना ज़हर का असर रखता। यों ही किसी के नाच की गति देख मन की और ही गति होती, और प्रत्येक तोड़े दिल दर्पन को तोड़ डालते थे।

किश्ती के किसी कोने से नालों की नदी बहती, कहीं लोग कुग्ग कटाक्षों की चोट से लहालोट, तो कोई प्रेम के प्याले से लोटपोट, कोई गुणी रसिक जो इसमें डूबता, तो कोई प्रेमी जीवनाशा से ऊबता था। और शेष टकटकी लगाये, वाह वाह की रट लगाए, सुधबुध गँवाए, लिखित चित्र से स्थित हैं।

दर्शकों पर यदि दृष्टि दीजिए तो कदाचित् वहाँ कोई व्यक्ति निर्गुणी वा मूढ़ मस्तिष्क दृष्टिगोचर न होगा, वरंच एक से एक पण्डित रसिक, धनी-मानी, प्रेमी और विद्वानजन विद्यमान और न एक विद्या वा केवल, एक ही नगर वा वेश वा स्वभाव के प्रत्युत सबी देश काल और चाल के, सज्जनों का सारांश सामने सुशोभित रहता, इसी कारण कहीं का कैसा भी किसी विषय का गुणी वा पडित वहाँ क्यों न जा पहुँचा, अवश्य ही वह अपने मेल के दो-चार मनुष्य ऐसे पाता कि जो एक साथ कहीं अन्य स्थान पर कदाचित्

सयोगात् ही मिलते, अतः सब प्रकार के गुणी और विद्वानों का यही विश्वास रहना कि यहाँ मेरे सूक्ष्म गुण के ज्ञाता समूह विद्यमान है। विशेषतः उसकी निज मण्डली तो मानो विक्रमादित्य वा अकबर के नवरत्नो का स्मरण करानेवाली थी, जिनमे दो-चार तो ऐसे बहुदेशी गुणाकर थे कि जिनका वर्णन ही नही हो सकता। इसी कारण सामान्यत सबी विषयक विशेषतः रस, राग, अनुराग और काव्य का तो मानों वहाँ कोष ही खुला रहता है।

उस सभा मे सभापति का कोई आसन विशेष नही रहता था, और मुख्य वा प्रधान स्थान पर भी प्राय मालिक मजलिस नही बैठता था, वरच कोई कोरा प्रतिष्ठित, वा यथार्थ प्रतिष्ठित और चन्द, किसी नियमित स्थान पर नहीं। वरन जब जहाँ जी चाहा वा अवकाश मिला आ सुशोभित हुआ जैसे कि सच्चा चन्द्र एक स्थान पर स्थित नही रहकर यों ही वह उस सज्जनों की सभा मे विशेष वस्त्राभूषण वा आनवाल से नही, वरच असख्य तारागणों के मध्य स्वत चन्द्र के समान सबमे पहचाना जाता था। किसी ने सच कहा है कि—

"नही मुहताब जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।
कि जैसे खुशनुमा लगता है देखो चाँद बिन गहने"

प्रिय पाठक यह केवल कविता नही, हमने भी उसे यों ही वे किसी के बनाये पहचाना था, जैसा कि—

मोहनी मूरत मैन भई अरु माधुरी या मन माँहि अमन्द है।
सूधे सुभाय सनेह लसै त्यौ वसै रसहू को तही छल छन्द है॥
मूरतिमान सिगार हिये घन प्रेम विहार सदानद नन्द है।
सावरी मूरति वेष विचित्र ते जान्यो परै कै यहै हरिचन्द है॥

उस मजलिस मे यह न था, कि नायका खडा होकर मनमाना जो चाहे नाच गाकर समय बिताये, वरच गाने मे समय के अनुकूल राग-रागिनी, सच्चे स्वर और साँचे की ढली लय मे होनी तो, आवश्यक ही है, आगे तानबाजी और गले के दम खम का दिखलाना तो योग्यतानुसार प्रसन्नता का हेतु है। भाव-प्रदर्शन भी उचित और आवश्यक मात्र ही होता यो ही नृत्य में गति और तोड़े ताल और टकसाल के ढले होना परमावश्यक था। हाँ इसके उपयुक्त एकान्तालय के लिए नियत और अनेक यथा ईप्सित स्थान पर पहुँचना जरूरी है, सारांश उस सभा मे बैठनेवाले विशेष व्यक्तियो के आवश्यक कृत्य के दूर करने को वही सब सामग्री सदा प्रस्तुत रहा करती। फिर कहिए कि उस मण्डली की जिसने यह अलौकिक लीला देखी, उसको फिर कही क्यो आनन्द आने लगा। होली के दिल्लगी भरे पत्र ही मे लिखा आता 'मगल में अवश्य आइयेगा, घर की किश्ती पर अबकी विशेष आनन्द की आशा है'।

चार दिन प्रथम न्यौते का छपा कार्ड पहुँचा। दूसरे दिन फिर पत्र आया कि नही-नहीं यह कदापि नहीं हो सकता, आप न रहेंगे तो फिर भला आनन्द ही क्या आयेगा, चार दिन मे कौन हरज हुआ जाता है, आपको हमारी क़सम अवश्य ही आइये। मज़ा किरकिरा न कीजिए। अब तार पर तार आने लगे। लाचार हज़ार हर्ज करके जाना ही पड़ता था। वहाँ पहुँच कर सुध बुध गँवाना ही पड़ता, और चार दिन के बदले सोलह दिन काशी मे बिताना ही पड़ता था। अस्तु इस चन्द्र के अस्त होने पर आनन्द की आशा से अब उस अँधेरी काशी मे विना किसी आवश्यक कार्य के अनुरोध से जाने की इच्छा क्यो होने लगी, और फिर बुढवा मगल की देखने की इच्छा का तो प्रसग ही क्या है। सयोगात् एक बार इस अवसर पर पहुँच भी गये और कई एक मित्रो के आग्रह से भी मेला देखा। एक मित्र ने बड़ी तैयारी से अपनी किश्ती भी सजाई थी। परन्तु केवल बेगार सी टालनी पड़ी, आनन्द का लेश भी न मिला, और मन को यही मान लेना पड़ा कि बस इस मेले के गौरव को हमारे मन मे भुलानेवाला कदाचित् यही अन्तिम मगल का मेला है।

हमी पाठको मे से अनेक जन कह उठेगे कि आपने इस वर्ष मेले का वृत्तांत सुनाने का न्यौता दिया था, यह प्राचीन पचड़ा परसना क्या आरम्भ कर दिया। हाँ, ठीक है,

भरी है सीनये होजा मे आतिश इस कदर गम की !
कि ठण्डी साँस भी लूँ तो मेरे मुँह से धुआँ निकले।

बहुतेरा चाहते हे कि उन बातो को भूल जाय, पर जिह्वा सभी अवसरो पर कुछ न कुछ उसी मण्डली की चर्चा छेड़ बैठती है। किन्तु बुढवा मगल के साथ पुरानी कथा के मेल मिलन से यहाँ कुछ अधिक अनुचित नही हुआ एव आपने एक ऐसे अपूर्व जमघट का वृतांत भी जान लिया कि जो केवल इसी लेख द्वारा सुलभ था।

अस्तु अब नई ही कथा सुनिये, इस बार भी मै न मेला देखने वरच केवल वल्लभकुल के अनेक गोस्वामिस्वरूपो, विशेषतः काकरौली के श्री मन्महाराज टिकैत श्री गोस्वामी श्री बालकृष्ण लालजी महाराज के दर्शनार्थ ही गया था। क्योकि श्रीमान् के अनेक गुणागुण श्रवण कर, कई वर्षो से चित्त मे उनके चरण दर्शन की अति उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी, और उनके अनेक दिनो से श्री काशी मे विराजमान होने पर भी यह उग्र अभिलाषा न सफल हो सकी थी। इधर बुढ़वा मंगल के दिन भी आये, और इधर एक मित्र का पत्र भी आया, कि कांकरौली के महाराज भी इस वर्ष मंगल कराते है जिस कारण और भी अन्य कई गोस्वामिस्वरूप यहीं विराजमान हैं। यदि इस अवसर पर भी आप न

आये तो निश्चय पूरे अभागे समझे जाइयेगा। मैंने इसे सच समझ सोचा कि चलो इस अवसर पर न वरंच अनेक गोस्वामि महाराजो के वृन्द का दर्शन होगा, बुढ़वा मगल का मेला भी जिसे केवल अब बुढवा जान नि.सार समझ लिया है, देखे तो इस बार कुछ मनोहरता का प्रदर्शन कर पाता है ? क्योंकि जिनके चेलो का आनन्द गोष्ठी का आनन्द पाकर चित्त अपनी ऐसी सम्मति-स्थिर किये है, उनके गुरुओ के इस सुवृहत् समारम्भ की शोभा देख लेनी ही परमावश्यक है। विशेषत. मुख्य रूप से जिम रूप का दर्शन हमे इष्ट है, उसकी इस अवसर की झाकी देखनी भी मुख्यतर है।

निदान यह विचार उठा और स्टेशन पहुँचा, हमारे नगर के लोग भी तो अद्भुत बेफिक्र है प्लेटफार्म पर एक चुना मेला-सा लगा मिला, नये उमग के लोग बाग बाग़ से टहलते दिखायी देने लगे, भांति-भांति के स्वरूपो, पर भाँति-भाँति की लालसाएँ लहकती कोई किसी को तकते तो कोई किसी से बहक-बहक कर बाते करते, कोई किसी से नया साथ जोडते, तो कोई किसी का बन्धा सग छोड़ते और नया मेल मिलाने की चिन्ता ही मे थे कि मेल ट्रेन आ धमकी। लोग लगे धमाधम गठड़ियाँ पटकने। अपने भी चटपट टिकट ले ज्यो ही गाडी के निकट पहुँचे कि एक और ही विकट साथ मिला जिसने सबका सग छुड़ाया। अस्तु गाडी पर चढ़े, पहाड़ी पहुँचे, चुनार छूटा वह भर्तृहरि का गढ़ भागा-सा चला जा रहा है, वह नारायणपुर गया और यह मुगलसराय पहुँचे।

वाह आज तो स्टेशन दाल की मण्डी को मात कर रहा है इधर रडियो का समूह तो दर्शको का जूह, इधर मिर्जापुर और प्रयाग, तो पटना और कलकत्ते की चालान। वाह यह छमाछम का रव सुन कैसे लोग शीघ्र गति मे चलने लगे है। कोई खीस बाहर कर पूछता है कि 'मोशा तुमार नेवास कोना' एक बोलता कि—'माशा नही मशी कहो नही दन्त सकार का उच्चारण करो"—"भाई जिसका जैसा नाता हो", "हाँ मोशा तुमार नाम की आछी" "ओवीर और ये" "होरी दासी" आय हाय ? यह अबीर और यह होरी। होरी-होरी यह तो मन मे होरी लग गई" मै इस लीला को देख जो निकट पहुँचा, तो देखता हूँ कि मेरा एक लखनऊ का मित्र यो बावला-सा बेहाल घूमता बैतलमाल बन रहा है, मुझे देखते ही वह दौडकर आ लिपटा, पूछा कि भई तुम कहाँ, 'कहा कि जहाँ जान वहाँ' दो दिन बहुत दिल को समझाया, मगर उसने न सुना, और यहाँ ला पटका। आखिर जा पहुँचा। तब चढ़ो चढ़ो नही गाड़ी खुलती है, का शब्द सुन हम लोग भी ठेल पेल कर रेल पर चढ़ बैठे : हमारा लखनौआ मित्र यद्यपि फ़र्स्ट क्लास का टिकट लिए था पर कूद-कर थर्ड क्लास मे यह कहता हुआ जा घुसा कि ऐसी अवल पर खुदा की मार है। तुम पर तो शामत सवार है मियाँ•आज तीसरे ही दर्जे पर बहार है खैर

चलो अगर जीते-जागते बचे रहे तो राजघाट पर फिर मिलेंगे। इतने में सीटी बजी, रेल चली, हमलोग अपने उस मित्र की इस विचित्र दशा पर हँसते-हँसाते राजघाट पहुँचे।

देखते हैं कि राजघाट पर हमारे मित्र ही का राज हो रहा और एक उसी के नाम की तूती बोल रही है। उनके नौकरों ने पहले ही पहुँच बीसों बग्गियों किराए करके बयाने दे दिए और भाड़े की गाड़ियाँ उन्हीं की ओर से सबको बँट रही है, जिसके लिए अनेक सुमुखियाँ तो गिड़गिड़ातीं और कई सुश्रूषा करने पर भी इहसान से झिझक रही हैं। किसी को पान दिया जाता, तो किसी से वादा लिया जाता है मानो ये रेल से उतरी अधिकांश रंडियाँ इन्हीं के बरात में नाचने आई है। निदान किसी-किसी भाँति हम लोग अपने उस अनोखे मित्र को पकड़ कर अपने साथ ले चले और एक बनारसी मित्र के घर जा पहुँचे। देखते हैं कि लोग गुलाबी पोशाक पर गुलाब का इत्र लगा रहे हैं, हम लोगों का पहुँचना क्या था मानो होली के अखाड़े का आना था। 'आह, हा, हा, हा वाह जनाब केवल आपी के इन्तज़ार में हम लोग बैठे हैं'। अभी नेपोलियन के प्रश्न से उत्तर दिया कि वह आये और धन्य। कि आप यह आये। खैर बूटी छनी रखी है, पीते जाइये, और चलते जाइये, क्योंकि वक्त बहुत तंग है और यह कह सबसे कुशल प्रश्न पूछ, गृही मित्र तो हमसे लोगों के आतिथ्य में लगे, और हम लोग अपने पथ-श्रम दूर करने तथा चित्त को पुनः भला चगा बनाने के यत्न में, कोई भंग पीता, तो कोई हाथ धोता, कोई नहाने तो कोई कुछ खाने लगता। निदान जब तक स्वस्थ हो कपड़े, पहनने लगे तो ज्ञात हुआ कि वह लखनऊ निवासी चुलबुले चित्त वाला मित्र तो धीरे से एक गाड़ी पर बैठ कहीं खिसक दिया, कुछ विलम्ब तक तो बाट देखनी पड़ी पर भला वह क्यों आने लगा। हाट देखा, बाट देखा, और एक-एक घाट छान डाला, पर वह न मिला और न मिला। अस्तु निराश हो, मेला देखने का सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा और एक नौका भाड़ा कर राजघाट से अस्सी तक का चक्कर लगाना आरम्भ किया।

काशी के पूर्व छोर से लेकर पश्चिम पर्यन्त के प्रत्येक घाटों पर जो अनुमान ढाई तीन कोस के विस्तार में होंगे, काशिराज और नगर प्रतिष्ठित महाजनों से लेकर मदनपुर के जुलाहों तथा श्मशान के डोमड़ों तक की नौकाएँ निज शक्ति और श्रद्धा के अनुसार सुसज्जित देख पड़ने लगीं। संख्या भी और वर्षों की अपेक्षा अधिक है कोई पटैले पर बासों के ठाट ठाटे हैं, तो कोई घटहा पाटे हैं, बजड़े पर झाड़ फानूस की सजावट कर नाच माच देखता, तो कोई मोर-पंखी सजाये अपना अखाड़ा ला खड़ा किये हैं, किसी ने कोई छोटा-मोटा कटर भाड़े कर रंगीन चोब वा तूल लपेट कर गोटे की लहरिया देकर झालरदार

चाँदनी तान चार ठो हाँड़ी नाँद जला कर उजाला किये अपनी सूरत और झला-मल कपड़ों की सजावट ही दीखाता घूमता तो कोई एक पनमुही पर सवार नाच-वाली नौकाओं की ताक में डोलता-फिरता मानों मेले मे भिक्षा-सी मांग रहा है। विशेषत: काशी के बड़े नाम और घराने वाले महाजन और रईस प्राय: इसी श्रेणी में रहा करते हैं क्योंकि गाँठ से रुपया खर्चा जाता नहीं और शौक़ इतना कि बिना मेला देखे भी नहीं रहा जाता। कोई साल भर इसी लालसा से थानेदारों से साहब सलामत किए, मुफ्त में पुलिस की किश्ती पर चढ़े मेले का प्राण-सा निकालते घूमते हैं। कोई दो चार लैम्प जलाये दस पाँच कुर्सी बिछाये काली पतलून और जाकिट जमाये गड्डामियरी सूरत बनाये मुँह में चुरुट सुल-गाये, धुँआ कस की समा लाये, गिटपिट-गिटपिट अंग्रेजी बोलते, साहिब लोगों का स्वांग सजाये, अपना ही तमाशा औरों को दिखला रहे हैं। कोई एक लाल-टेन बीच में रखे बिसात बिछाये, शतरंज के मुहरों कटने के रंज में डूबे रात काटे टालते। तो कोई ताश के पन्ने अपने प्रारब्ध के पत्रे से उलट रहे हैं। कोई गनमित का मौका हाथ आया देख अचानक अपने यार वफादार को पाकर किसी अकेली किश्ती के कोने मे एक एक्के की ज्योति में उस दिलवर के नूरानी ममहफे रुखसार को क़ुरान शरीफ के समान ध्यान लगाये मानो पढ रहा है, और उसके हर खत्तों खाल पर गुलिस्ताँ और बोस्ताँ को बार फेर कर फेंकना, शेष संसार को निस्सार जान मेले मे भागता, भगवान की विलक्षण रचना, चातुरी के पहचानने मे असमर्थ हो तन्मय दशा को प्राप्त हो रहा है, जिसकी आँखों में यह मेला केवल एक निर्जन वन के सादृश्य रखता है। वही मिलकर लोंढ़िया बजती और किसी डोंगी पर बूटी छनती, कहीं गाँजे की दम लगती और तान उड़ती है। कही होली के जलते भट्टे पर छनाछकर पूरियाँ निकालते "गरमागरम कचौड़ी मसालेदार" चिल्लाते धुआ-धक्कड़ मचाते, हलवाई लोग अपनी दुकान की नौकाएँ बढ़ाते चले जाते है और भूखे परदेशी मेला देखनेवाले शिकारी कुत्ते के समान अपनी नौका दौड़ाए लपक रहे हैं। कही बनारसी गंडे और अखडो की दोनी टोलियाँ उड़ती क्या सिधा !—"अचूका तो राजा"—"और कैमन दवल जात हौव."—"कहाँ तोहरे बापै के तो कट्टर भिड़ौले चलल आवत हई।" "रंग है झज्झर इतो भारी भर्राटे कै आवाज छेड़ल्य:"—कही कोई चिल्लाता कि "तनिक रोकले रह: हो:। नाव बढ़ जायद्य:"—"अरे काहे झूरै नाव नाव चिचियायेल्य: बच्चू अबहियें जहाँ चार डांड़ कसलों कि पल्ले पार कै दिमल।"

"देखत है अ: कि नाहीं बे रगें बोली बोलत डोंगी सटौले चलल आवत बाड़ै, सूझत न ई नाही जनतै कि हमन बड़े बड़े गुण्डन कै चेहरा बिगाड़ दिहल हई।" किसी नाव पर रंडियाँ विविध भाव बतला-बतला कर गा रही हैं—

चलो रे सखी रे, मलिया की बगिया हो रामा।
फुलवा मे बीनो हो भरल्यू चगेरिया हो रामा।
आइ गयलो रे मलिया रखबरवा हो रामा।

बस इसका बना भाव जिसने देखा, वही जाने अथवा—

नैना भरि के ही देखहू ना पउलिउ हो रामा।
तोरे करनवा होवै जोगिनिया हो रामा।
चैन की नीदिया रे अखिया अलसानी हो रामा।
तोरे उपरा रे जियरा मोरा जाला हो रामा।

इत्यादि-इत्यादि बनारस की अनोखी लयदारी के सग इस चैती गान की तान इस समय प्रेमी राग-रसिको के कान मे क्या काम करती है, यह केवल अनुभव का विषय है। कही कथक थिरकते तो कही कलावन भाड रागिनी गाकर माडवारियो को भी मस्त किये देते, कही भाँडो की तालियाँ बजती, तो कही कव्वालो की नकले होती, कही गँवार लोग तन भड भड लगाये, तो कही जोगीड़े होली मचाये भउतल्ले की ताल पर ललकार रहे है। "कि हाँ जोगी जी, हाँ जोगी जी, तेलिया नाला बहै पनाला राजघाट पर काई, जहाँ तुम्हारी बहिन बिआही तहा हमारा भाई॥ रे पर देख चली जा, जानी पर हाँ।" वे इसी के बीच-बीच अनेक आवश्यक और ऐतिहासिक बाते भी कहते जैसे कि "दयाबाद दर्याविकिनारा खुर्दाबाद निशानी। अकबर शाह ने किला बनाया जमुना जी का पानी' इत्यादि।

यह सब लीला देखते-दिखाते कई चक्कर लगाते अपने उस भूले मित्र को ढूंढने हम लोग थक गये परन्तु उनकी झलक भी दिखलाई नही पड़ी।

लगे कैसे, पता या उस बुतेकाफिर का हेरा हूँ,
बनारस मे हजारो मन्दिरो लाखो शिवाले है।

इस भारी मेले के झमेले मे किसी भूले भटके अकेले दुकेले का पता चलना कुछ सहज नही।

बस इसी हेर फेर और सोच विचार मे प्रभात वात बहने लगा, पूर्वदिशा अपने प्रिय प्रभाकर को पाकर मद मद मुस्कुराना आरम्भ करने लगी। लज्जा-वश ज्यो ज्यो तारावलियो ने अपना मूँ छिपाना आरम्भ किया, कि इधर फर्राश लोग नौकाओ के झाड-फानूस की बत्तियाँ भी बुझा चले। जिस तम को ये असख्य ज्योतियाँ न दूर कर सकी थी, भगवान् भास्कर की दो चार किरनो ने आकर नाश कर दिया। अब कुछ और ही शोभा हो चली, रात बीत गई, दिन दिखलाई देने लगा। उजेले मे दूर दूर की भी हर ओर नौकाएँ पहचान पड़ने लगी। घाट छोड़ नौकाओ के झूनड़ धारा मे पड़ चले, सब

राग-रागनियों का गाना बन्द हुआ। अब केवल भैरवी ही राग का सनाका सुर सारे सुरसरि-धार पर सुनाई दे रहा है। कहीं "पनिघटवा रोके ठाढ़ो" "तड़प तड़प सारी रैन गुजारी क[illegible]वटिया लेन दे" "सैयाँ आवन की बरियाँ री, गुइयाँ दरवजवा लागी रहूँ", "अब मोसो प्रीत क्यों लगाई रे, साँवरे कंधैया, मैं तो गाली दूँगी तोको छांड़ दे वलाई" कहीं—"आजकल जोशे जुनूँ है तेरे दिवाने पर," "बज़ाहिर तो लगावट हमसे हर बार बरते हैं, पर दिल में खुदा जाने किसे वह प्यार करते हैं," "हमारी आह की तासीर देखो, हे शख्व सितमगर मेहिलकात् कौन है व मेरे पहलू से उठ गये हे इधर की दुनिया उधर हुई है। कयामत आई है या इलाही", "आज कैसी सहर हुई है" कही कंहरवा मचा है, और मुग्धा वेश्याएँ टोपी पहने कमर लचका-लचका कर अपने प्रेमियों को हलाल-सी करती, गाती—"मोर मातल कहरवा जाल बोने जाला"— "मुह चूमै न देबै बिना भुलनी", "न जा बालम परदेसवाँ मोरे राजा", "लरिकैयाँ नदान लरिकैयाँ नदान" "हाँ हाँ रे कटरिया नैनों की लागी रे कटरिया"—कहूँ सेजरिया पर रात रही। माथे कै बैंदिया जात रही" और फिर कहीं—बैराग जोग कठिन ऊधो हम न करब हो' "हे गोविन्द राखु शरण अब तो जीवन हारे"—"नाम को अधार तेरे नाम को अधारा" हो रहा है, मानो रात भर के चचल चित्त को फिर स्थिर करने वा शृंगारादि रस श्रवण से उत्पन्न सांसारिक प्रेम-विकार को शान्त-रस-सलिल से परिमार्जित कर सज्जनो के मन को अब पुनः पवित्र कर पारमार्थिक कर पवित्र प्रेम के योग्य बना उस सच्चे प्रीत-पात्र की प्रीति का महामत्र-सा दिया जा रहा है। अब सच्चे रसिक भला यह सुनकर कब ठहर कर फिर कोई दूसरा शब्द सुनने को बैठे रहते, निदान चुनिन्दे चतुर चलने लगे, अपने लोग भी उठे और अपनी नौका हटा, घाट की ओर प्रस्थान किया।

आहा आहा हा···उत्तराभिमुख होते ही मानों उत्तरा खण्ड ही में पहुँच गये। जहाँ तक दृष्टि दौड़ती है एक अद्भुत पवित्र दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है, मानो आज काशी कैलाश का विलास कर रही है। श्री मन्दाकिनी के सुचिक्कण शिलासोपान-विनिमित विशाल घाटों के ऊपर प्रस्तरमय असख्य सप्तभूमि हर्म्य, प्रासाद और मन्दिर पर्वत श्रेणी के समान अनुमान होते, जिनकी सुधा धवलित अट्टालिकाएँ और संगमरमर के बँगले हिमाचल के हिमाच्छादित शृंग की-सी शोभा धारण किये है। शिवालयों के उच्चतम भाग में नभस्पर्शी स्वर्णादि धातु विनिमित कलश और कंगूरों के वृन्द त्रिशूल धारण किये, मानो हाथ उठाये कह रहे हैं—कि त्रिताप शमनकारी, त्रिजन्म पापहारी, स्थल त्रिलोक में केवल एक यही त्रिलोचन त्रिपुरारि-पुरी ही है,

और सुनहरी पताकाएँ फहराती साहकार मानो आर्य धर्म के अटल राज्य के प्रकर्ष प्रताप को सूचित कर रही है। अनेक सुविशाल देवालयों में प्रातःकालीन अर्चन और पूजन में बजते शंख भेरी घंटा घड़ियाल का कल तुमुल दशों दिशा में व्याप्त हो मानो हमारे सनातन धर्म की विश्व विजय बधाई-सी सुनाई देती है। कहीं तानपूरा, मृदंग और झाँझ बजते कीर्तन और भजन होता, जिनके द्वार पर भैरवी की नौबत झड़ती मानो इस नित्य मंगलमय स्थल को बतला भूलों को चैतन्य करती है, कही ब्राह्मणों के लड़के वेदाध्ययन करते उद्घोषण कर रहे हैं कि सरस्वती देवी का आश्रय स्थान अब केवल यही है। गंगा तट पर ब्राह्मण लोग संध्यावन्दन तर्पण देवार्चनादि ब्रह्मकर्म करते, मानों इस कराल कलिकाल में भी धर्म को धैर्य से दे रहे हैं, और सामान्य द्विजाति अपने आर्य वेश सतकर्म रत लखाते मानों इस तीर्थ में अद्यापि धर्म के निवास का प्रमाण-सा दे रहे हैं। सामान्य जन हर हर महादेव शकर पुकारते मानों जिसका राज उसकी दुहाई वाली, कहावत को चरितार्थ करते—भगवान भूतभावन भुजगभूषण का स्मरण करते, शिवालयों में जा जल चढ़ाते गाल बजाते अपने जन्म-जन्मान्तर के पाप पुंज को दूर बहाते जाते हैं। कही स्नान कर कापाय-कौपिनधारी एक हाथ में गगाजलपूरित कमण्डल लिये दूसरे में अपना दण्ड ऊँचा किये, दण्डी स्वामी लोग प्रशान्त भाव से अपने आश्रम को जाते, मानो 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' की शिक्षा-सी देते जाते। कहीं सुर सरिता के निर्मल और सुशीतल सलिल में कुलवधू सुकुमारी सुमुखियाँ स्नान करती, देवताओं के मन को भी हरती, यह निश्चय करती कि मानो चतुर चतुरानन ने काशी की गलियों में मुक्ति को यों ठोकर खाते देख उसकी रक्षा के लिए एक अवरोधक कुलाहल की सृष्टि की है। जिनके सहज सलज्ज रहन सहन को देख रात भर देखे वेश्याओं के सब हाव भाव रसाभास से अनुमान होता है, औ मन मान लेता, कि ठीक है इसीलिए साहित्याचार्यों से यथार्थ प्रतिष्ठा स्वकीया ही नायिका को दी गयी है। वे अपने बहुमूल्य वस्त्रालंकार और दान दक्षिणा देती स्थिर भाव से रहती है। एवं निज नित्य नैमित्तिक कर्म से अवकाश पाकर झुंड के झुंड ब्राह्मणों तथा संन्यासियों का क्षेत्रों में भोजनार्थ जाना मानो भगवती अन्नपूर्णा के साक्षात् विद्यमान होने को प्रमाणित कर रहा है। आहा धन्य यह काशी है कि जहाँ कुबेर के समान कितने ही धनवान् और शेष के सदृश कितने ही विद्वान, असख्य भक्त महात्मा और तपस्वी अब भी निवास करते हैं। धन्य है जो यहाँ सदैव निवास करते और नित्य इस आनन्द को देखते है। किसी ने सच कहा है कि—

चना चबैना गंगाजल, जो पुरवै करतार
काशी कबहूँ न छोड़िये विश्वनाथ दर्बार ।।

अब अपनी नौका ईप्सित घाट पर आई, हमलोग नाव से उतर गाड़ी पर चढ़े । उस बिछड़े मित्र के न मिलने का पश्चात्ताप करते-अपने बनारसी मित्र के साथ जा उन्ही के घर फिर धमके ।

पाँच बजे सध्या को सुस्वादु गुलाबी बूटी के रंग से फिर गुलाबी आँखें कर यार लोग श्री गंगाजी के घाट पर आ डटे—कल मगल था, आज दंगल का दिन है, अर्थात् दिन के मध्याह्नोपरान्त से पुनः मेले का आरम्भ होकर अर्ध रात्रोपरान्त समाप्त होता, और इसकी सध्या की शोभा मानो मेले भर का साराश है, इसी से आज गंगाजी की धारा के अतिरिक्त घाट पर भी आनन्द की हाट लगी है, अर्थात् जल और स्थल दोनों स्थान पर मेला जम रहा है। वरंच जो लहर आज स्थल पर है, तल पर नही, क्योंकि वे लोग भी जो कि नाव पटैया के मेले में नही भी सम्मिलित होना चाहते, घाट पर से एक दृष्टि उसकी शोभा देखने को आ डटते, यों ही अनेक नौकारोहण भीरु और लड़के वाले लोग, तथा जिनका कही गुबीते से नाव का सेढा नही लगा वा टका निकालने मे असमर्थ और ठस लोग भी आकर घाटियो के तख्ते, मढ़ी और घाट के बुर्जों को दखल कर बैठते जिनमे प्राय: सभी प्रकार के लोग अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार सुन्दर वस्त्रालकार से सुसज्जित होते है। बहुतेरे बनारसी नवयुवक छैले जिनके सुन्दर मुखारविन्द पर कलित कामदार टोपियो से लसित घूँघरवाली काली कुन्तलावलि मानो मलिन्द माला-सी मनोहर होती, सदई, सन्दली, शर्बती, काफूरी, मोतियई, खसखसी, कपासी, गुलानारी, गुलाबी और प्याजी बनारसी दुपट्टों, जिनसे गुलाब और खस के इत्र की सुगन्ध फैल रही है, गले मे डाले मानो बहार मे खिले नाना रंग के फूलो की बहार दिखलाते तटस्थ तम्बोलियों की दुकानों पर ऐंठे बैठे आँखे लड़ा रहे है। कही सर्व कही सर्व कदों की कतार तो कहीं चश्मि नर्गिस का दीदार, कही गुलरुखों की भरमार, तो कही बुलबुल से बेकरार आशिक जार भाँति-भाँति की बोलियाँ बोल रहे है। वाह क्या बहार है। मानो इस बहार के मौसिम का यह मेला भी गुलजार पर बहार है। अनेक रसीले मेले का सर्वांश रस चूसते इधर से उधर डोलते-फिरते, तो कितने ही किसी एक ही मुखारविन्द पर टकटकी लगाये मानो कण्ठगत प्राण से हो रहे हे। न इतनी भीड़ केवल तट के तल भाग ही पर है, वरच घाट के ऊपर के पँचतल्ले और सततल्ले मन्दिर और महलो की अट्टालिकाओं पर भी वैसा ही नर-नारियों का समूह सुशोभित हो रहा है, विशेषत: ऊपरी भाग तो केवल सुन्दरियों के सौन्दर्य से भरा पूरा है। कोई तो चिक लगी खिड़कियों मे बैठी अपने लोल

लोचनों को यों चारों ओर फेरतीं, मानों शैलावली के मध्य सफरी-सी नचा रही है, कोई काँच की किवाड़ियों से जलनिमग्न प्रफुल्ल जलज के समान अपने अमन्द बदन की द्युति दिखलाती । और कोई अपने घूँघट की ओट से निहारती मानों मोहनी मूठ-सी मारती है । अनेक जो अपने असित अलकावली बिखेरे, श्याम घन घेरे, मयक से मुख पर मुसकुराहट की छवि से दामिनी-सी दमका रही है, तो बहुतेरी उच्चतम अटारी पर जा प्रत्यक्ष कटाक्षो की कटारी चला रही है । यदि अनेक मेले के मनुष्यो को देख लज्जा से आँखे करतीं, तो कोई अपनी तनी भौहें तनिक और भी तनैनी कर कितनेहू को मारे डालती है । यदि कोई सुकुमारी सुन्दरी अपने अनूप रूप को भिक्षा देने मे उचित भिक्षुक से भी कृपणता दिखलाती, तो कोई कुरग-लोचनी किसी नवयुवक से चक्षुचार होते ही घूरकर उसका चित्त चूर-चूर कर रही है । अहा हा ! यह आज कैसा अद्भुत शोभा का समुद्र उमड रहा है । अरे यह तो मानो ब्रह्मा की विचित्र रचना-चातुरी के प्रदर्शन का मेला है, वा महाराज मनोज के मन बहलाने के लिए अपूर्व मीना बाजार लगाई गई है,;

"नजर आती है हर सूँ सूरते ही सूरते मुझको ।
कोई आईनाखाना कारखाना है खुदाई का ।"

जल व थल पर्यन्त जहाँ पर दृष्टि फैलाइये, चारो ओर केवल स्त्री और पुरुषों का मुख ही मुख लखाई पडता है, और सच तो यह है कि काशी का नाम आनन्द-वन कदाचित् आज भी चरितार्थ हो रहा है ।

यह बुढवा मगल का मेला क्या वस्तुत: बुढवा बाबा महादेव का मगल विवाह का मेला ही है, और यह दगल (भारी भीड) कदाचित् बारात वा सोहगी निकलने का समय है, जिसे देखने के लिए ये देवधारा और गन्धर्व कन्याएँ अपनी ऊँची अट्टालिकाओ पर चढी है । श्री गगाजी की सब नौकाएँ मानो नाना बाराती देवताओ के विमान है, जो अभी आकाश मे उतर रहे है, क्योकि आगे बढी यह मोरपखा देवसेनानी मयूर वाहन के समान इस अनुमान के यथार्थ होने का प्रमाण-सी दे रही है । इस वर्ष सूर्यग्रहण के समीप होने से प्रयाग के कुम्भ से लौटे साधू सन्तो का उस पार भी अधिकता मे आ बसने से एक नवीन जन स्थान-सा बस गया है, जो मानो बुढवा बाबा की बारात का जनमासा है कि जिसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के साधुओं की मण्डलियाँ मानों भिन्न-भिन्न बाराती देवताओ की बाराती सेना है—यदि दण्डी लोग काषाय वस्त्रधारी चोबदार कचुक वा द्वारपाल है; तो परमहस लोग पार्षद, और प्रधान; तथा नगे-भुजग विभूतिधारी नागे उस दिगम्बर के खास हुजूरी पलटन के सैनिक समूह के समान अनुमान होते । अयोध्या के वैष्णव लोगो के अखाड़े मानो विष्ण की सेना है, और कमण्डलुधारी अनेक ब्रह्म-

चारी औ ब्राह्मण ब्रह्मा की, उनके दर्शक धनी गृहस्थ कुबेर और उनकी रक्षा के अर्थ पुलिस के कान्सटेबिल और चौकीदार यम की और अनेक अन्य अन्य की। श्रीगंगाजी मे भी नौकाएँ आज अधिक हैं; क्योंकि बहुतेरी नावें आज ही पटी हैं; क्यों नहीं; आज तो दंगल (किश्तियों की कुश्ती का मेला) है न, वाह ! यह महाराज काशीराज का कच्छा है कि जिससे सात कच्छे एक ही में मिलाकर पटे हैं। और बड़ा भारी देश और शाहमियाना खड़ा है, और भा सब उचित राजसी ठाठ टटा है, झुंड को झुंड रण्डियाँ बैठी हैं, यह यहीं की बनी केले के खम्भे के समान मोटी मोमबत्तियाँ हैं, जो बैटकियों पर लगी है; पर नृत्यगान कुछ भी नहीं होता है, क्योंकि महाराज तो घुड़दौड़ (एक उत्तम नौका, जिसके अग्रभाग पर दो कृत्रिम घोड़े लगे है) पर सब सवार हो आज मेला देख रहे हैं, और उसी पर गान हो रहा है। इधर-उधर के कई सुसज्जित बजड़े और मोरपंखियों पर महाराज के अन्य प्रधान पुरुष लोग भी साथ-साथ मेला देख रहे हैं। वाह ! नवीन महाराज आज कैसे शोभायमान हो रहे हैं, मानों बुढवा मगल अपना बुढ़वा स्वामी छोड़, नवीन को पाकर नवीन मंगल हो गया है। यह जिस मोरपंखी पर नाच हो रहा है, उस पर महाराज के ठाकुरजी विराजमान मेला देख रहे हैं। धन्य ! क्या हिन्दू राजा की पवित्र श्रद्धा का प्रमाण है। धन्य ! काशिराज धन्य ! वृद्ध महाराज की इन परिपाटियों को अद्यापि यथावत् प्रचरित रखना आपके महानुभावता का प्रबल प्रमाण है। इसमें सन्देह नहीं कि इस मेले में स्वयं सुशोभित हो, न केवल आप इसे शोभा और मान सम्प्रदान कर इसके स्वामी होने ही का प्रत्यक्ष प्रमाण देते, वरच वस्तुत: काशिराज होने की मर्यादा का भी पालन करते औ अपनी प्रजा में मिलकर आन . मनाते तथा उन्हें उत्साहित करते हैं।

आ···तो सध्या हो गई, चारों ओर दीपावलियाँ प्रज्ज्वलित हो गई। अपने लोग भी दशाश्वमेध घाट से घाट हो घाट घूमते आकर पंचगंगा घाट पर पहुँचे, पैर भी थक रहे, पर यह मन तनिक भी तृप्त न हुआ। कहता है, कि स्थल का मेला तो खूब देखा अब जल के मेला देखने की वेला आई, अत: वहीं चलो, क्योंकि यहाँ तो अब केवल बँधे तारवाले लोगों का ही काम है। "लिये फिरता है मुझको जा बजा दिल। मेरा वो दाग़ मेरा चुलबुला दिल"। अस्तु, फिर डोंगी पर चढ़ आगे बढ़ें···वाह ! यह गंगाजी में आधी दूर तक पुल कैसा बँध गया ! नहीं ! यह वही श्रीमन् महाराज श्री बालकृष्ण लाल जी कांकरोली अधीश्वर का कच्छा है ! ओहो ! यह कितने कच्छे एक में पटे है ? कदाचित् बीस होंगे। क्योंकि दोनों ओर इसके दो नृत्यशाला बनी हैं, जिसमें एक तो श्वेत, ठीक श्री काशिराज के तुल्य, और दूसरी गुलाबी रंग की, एक नवीन ही छटा छहरा रही है; और दोनों के बीच में कुछ नज़र बाग़ और खुले

चबूतरे की बनावट है। धन्य-धन्य यह अलौकिक रचना और समारम्भ ! हाँ यह लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है कि वल्लभ कुल के गोस्वामी महानुभावों के घर में सदा अचल रूप से लक्ष्मीजी ने निज निवास का वर दिया है। यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं जबकि लक्ष्मीनाथ की रसीली लीला ही का वह स्थान है, फिर भला ऐसे लक्ष्मी कृपापात्र और जिनकी आँखो मे उन्ही की ललित लीला का ध्यान है, उनके इस लीला रचना की लीला लिखने मे कैसे आ सकती है ! यह कितनी मोमबत्तियाँ जला दी गई कि इतना अधिक प्रकाश हो गया। वाह, इन लाल महताबों का उजाला तो मानो समस्त उजाले को रँगकर लाल कर दिया, और होली का दृश्य आगे आ गया है। यह विद्युत्प्रभा कैसी। और यह ठीक ही विद्युत्प्रभा जैसी (बिजली की रोशनी) है, जो कि कई सौ रुपये रोज पर कलकत्ते से मँगाई गई है भई ! वाह यह तो सभी को दबा बैठी !आहा ! घाटों की अटारियों पर तो इसने जाकर यह कार्य किया है, कि जो दिन मे भी दुर्लभ था ! यह प्रभा तो चन्द्रमुखियों के मुख पर पड़ कुछ और ही लीला दिखलाती है, इसकी चमक की चौंधी मे उनके चचल चक्षु-चचरीक जो करपुण्डरीक की ओट मे जा छिपते, तो मानो चन्द्र ग्रहण-सा लग जाता है। कितनी उस चमक के पड़ते ही चमककर स्वय चचला-सी चल देती, और दर्शको के चित्त पर चचला की चोट-सी चला देती। यो ही कितनियों को इस दामिनी की चमक-दमक मे अपने दामिनी की द्युति को भी दबानेवाली बदन की दीप्ति को दिखाने को और भी सुबीता होता। सच तो यह है कि इस समय यह बिजली की रोशनी दूरबीन का कार्य दे रही है अथवा जैसे किसी सुबृहत् दृश्य के छाया चित्र की विचित्रता देखने को सूक्ष्म-दर्शक दर्पण, कि बीच धारा मे बैठे उस लालटेन के तनिक घुमाने से सहज ही सबकी शोभा लखाई पड़ती है।

अच्छा चलो उसी गुलाबी कच्छे पर चले, और वहाँ की छवि देखे, परन्तु वहाँ तो इतनी नौकाएँ चारो ओर घेरे है कि पहुँचना भी कठिन है। यह किसकी किश्ती है ? इसके बीच मे क्या कुँअर सच्चित प्रसाद जो हे ? हाँ इधर ही तो देखते भी है। "आइये आइये बस चले आये! कल भी आप लोग नही आये कहाँ रहे ?" चलो, भाई कुंअर साहिब की ही आज्ञा का प्रथम पालन हो, यह कहते जो हमलोग उनकी नौका पर जा पहुँचे तो देखते है, कि कई वेश्याएँ वहाँ पर नृत्य कर रही थी और रूप यौवन पर बनारसी लोग लट्टू हुए, उनकी आरसी-सी स्वच्छ सूरत के आरसी मे अपने बर्बादी और मिट्टी मे मिलने की सूरत देख रहे है। वाह ! यह भांड लोग जो गा रहे हैं, बड़े चतुर है, उनके ढोटे की नाच औ भाव का तो कहना ही क्या है, "खुदा आबाद रक्खे लखनऊ फिर भी गनीमत है"। अहा अब इस ऊँचे बजड़े पर जो

कि कांकरोली वाले महाराज के गुलाबी कच्छे से सटा बँधा है, निकट से कच्छे की शोभा कुछ अपूर्व ही देख पड़ने लगी है, उफ़ : ! बहुत ही बड़ी नृत्यशाला बनी है। वह गुलाबी पट मण्डप, जिसकी झालर, खम्भे, और जंगले आदि सब गुलाबी ही रंग के हैं। अधिकाई से उत्तमोत्तम और बहुमूल्य इतने झाड़-फ़ानूस तथा शीशा आलात और राजसी ठाठ से सुसज्जित हैं, मानों सुरेन्द्र राज भवन की तुल्यता प्राप्त किया चाहता है, अथवा सहस्रों प्रज्ज्वलित दीप-शिखाओं के प्रकाश से जगमगाना मानों असंख्य तारागणों से देदीप्यमान शरदावकाश की शोभा धारण कर रहा है, जिसमें मंगल, बुध, बृहस्पति और शुक्र की भाँति रंग-बिरंगी महताबों का ताब और सच्चे महताब के तुल्य बिजली की रोशनी है।

जिसकी तीव्र ज्योति झाड़ और फ़ानूसों में लगी शीशों की डाल कलमों पर पड़ के सतरंगे असंख्य इन्द्रधनुष बनाती और दर्पणों में अपना तटबिम्ब ला वर्षा ऋतु की चंचलता की चकाचौंध लाती है किन्तु नीचे दृष्टि मानों बसंत का अखाड़ा वहीं उतरा अनुमान होता। न केवल कच्छे की सजावट ही में गुलाबी रंग की दिखावट, और अनेक सोने चाँदी के फूल चँगेरों में गुलाब के फूल अधिकता से भरे है, वरंच उस पर बैठे सभासद् स्वामी, सभ्य, औ सेवक सबलोग गुलाबी रंग की सब पोशाकें पहने हैं जिससे वहीं अनुमान होता है मानो इस चैत मास में प्रातःकाल ही गाजीपुर के उन गुलाब के खेतों में जा पहुँचे हैं, कि जहाँ कोसों तक गुलाब के फूलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलाई पड़ता, भाई इस भाँति गुलाबी रंग से रंगी महासभा किसी ने काहे को कभी देखी होगी सच है, यह यहीं का प्रसाद है जो कि अन्न के अन्य नौकाओं पर भी अधिकांश लोग गुलाबी रंग के कपड़े पहने देख पड़ रहे है। कदाचित् इस वर्ष हज़ारों थान गुलाबी ही रंग के रेशमी कपड़े केवल इसी मेले के कारण बिक गये होंगे तथा सहस्रों दर्जी और रंगरेजों का भी भला हो गया होगा। इन चाँदी की चोबों पर तने सुनहरे कामदार नमगिरे के नीचे गुलाबी कमखाब ही का बिछौना बिछ रहा है, जिसके आगे सुन्दर सोने के अनेक मर्जातर्स। साज, पान-दान, इत्रदान आदि सुसज्जित हैं, और उसके नीचे हौज में नृत्य होता है।

क्या नगर का कोई ऐसा प्रतिष्ठित और मान्य पुरुष होगा कि जो इस समय यहाँ उपस्थित न हो। नहीं, कदापि नहीं, हाँ जब अनेक दूर के नगर निवासी आज आकर बनारसी हो रहे है तो भला बनारसी क्यों न आ उप-स्थित हों ? वास्तव में कैसे-कैसे धनी और मानी लोगों की इस समय यहाँ पर भीड़ भरी है, बड़े-बड़े बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारी पुरुष इधर से उधर ठोकर खा रहे हैं और अनेक लक्ष्यपतियों को तो कहीं बैठने का भी ठिकाना नहीं लगता है। सचमुच ऐसे समारोह की सभा तो कदाचित् बड़े-बड़े महाराजाओं

के यहाँ भी न देखने में आती होगी। हाँ फिर बड़े-बड़े महाराजाधिराज लोग जिनसे दास्य भाव का व्यवहार रखते हैं, उनकी बात ही क्या कहनी है। देखो न हमारे महाराज काशिराज ही समस्त राजचिह्नों का परित्याग कर सन्मुख कैसे विनीत भाव से बैठे हैं। जो कदाचित् न समस्त महाराजाओं वरच सम्राटों के भी बराबर ही बैठने वाले हैं, धन्य हमारे महाराज मानो यह प्रमाणित कर रहे है कि आर्य सन्तानो की आँखों में इन महानुभावों के समान आज कोई दूसरा समान पात्र इस ससार मे नहीं है। और वस्तुतः ऐसा ही है, क्योकि अब कदाचित् भारत के मुख्य धर्माचार्यो मे से और किसी की विशुद्ध वश-परम्परा नही मिलती।

इस कामदार नगरी के नीचे कामदार गद्दी मसन्दों पर गुलाबी बागा पहिने सातो स्वरूप श्री गोस्वामि महाराज लोगों के है। आहा! धन्य! क्या शोभा है! बीच में बड़े-बड़े अमूल्य हीरों का सरपेच लगाये और अधिकता से केवल श्वेत हीरे ही के अनेक आभूषणो मे भूषित कांकरोली-पति गोस्वामी श्री बालकृष्णलाल जी महाराज विराज रहे हैं। उनके पास वाले जेष्ठ भ्राता हमारे लालबाबा साहिब काशी के श्री गोपाल मन्दिर के टिकैत गोस्वामी श्रीजीवनलाल जी महाराज और शेष व्रज, बम्बई और कोटे के महाराज लोग सुशोभित हो रहे है, और दोनों पार्श्व मे गुलाबी कामख्वाब के फ़र्श पर भट (अर्थात् उनके सम्बन्धी लोग) न्यूनाधिक वैसे ही वस्त्राभूषणधारी विराजमान है। इन महानुभावों के मुखारविन्द की शोभा ही कुछ दूसरी है, और एक अद्भुत श्री की छवि छाई है, अहा इन महाराजाओ के दर्शन मे अद्यापि हमारे प्राचीन आर्य वेश का परिचय-सा मिलता है। देखिये। तो इन जवाहिरात से जगमगाते वेश के आगे आजकल की टुच्ची चाल पर कैसी घृणा होती है, मानो यह इन्द्र आदि आठो दिकपाल है, जो यहाँ विराजे है, व सप्तर्षियों की गोष्ठी है। एवं उस बुढ़वा मगल की बारात की कदाचित् यही कच्छा नृत्यशाला भी है। यह दूसरा कच्छा बगीचे को लिये कहाँ चला गया। हाँ, आज उसी पर अग्रेजों का निमंत्रण भी तो है। यह क्या पार में अग्निक्रीड़ा (आतशबाजी) भी आरम्भ हो गई! हाँ! मगल के अवसर पर यह सामग्री भी तो आवश्यक ही है, वाह! यह धमाका, यह चरखियाँ, यह पटेबाज, यह टट्टी-फुलजड़ी! आह ये बान कैसे ऊपर जा रहे हैं! वाह, ये गज सितारे तो टूट-टूटकर आकाश के सब सितारों को मन्द कर अपनी ही रग बिरगी प्रभा फैला चले, मानो इस बुढ़वा मगल के अवसर पर सुर समूह सुमन बरसा कर हर्ष प्रकट कर रहे हैं यह बिजली की लालटेन क्यों इधर घुमाई गई। हाँ, दूसरे कच्छे की ओर वाह! यह तो श्वेत कच्छा देखते ही देखते अग्रेज और मेमों से भर गया! अहा, इतनी दूर से भी इस विद्युत्-प्रभा के द्वारा समस्त दर्श-

नीय वस्तु यथार्थ दृष्टिगोचर होती है। साहिब मैजिस्ट्रेट और कमिश्नर आदि सभी प्रतिष्ठित राजकर्मचारी लोग आ डटे हैं। यह भी एक अपूर्व दृश्य है, विशेषत: इन मेम लोगों का जमघट तो अद्भुत ही आनन्द ला रहा है। देखो तो इन गोरांगियों का कमर लचका-लचका कर इधर-उधर फिरना कैसा कुछ अनर्थ कर रहा है, यद्यपि यह सब सलज्ज लोचनों की मनोहारी चितवन और स्त्री जनोचित झलझलाते वस्त्राभूषणों से सर्वथा हीन है, तो भी अनेक रंगरंजित वस्त्रों और विचित्र वेष रचना से सुहाती, उद्धत भाव से पुरुषों से हिलीमिली मानों मार की मिली मार कर कुतूहल दिखला रही है। अहा! बात करने के मिस किस राजध्वज से उस गोरे युवक का किस-सा लेती बिचारे को विह्वल किये डालती है। कोई किसी पर ताक लगाए, तो कोई किसी से हाथ मिलाये मेला और आतिशबाजी का आनन्द देखती, अनेक आपस ही में मिलकर अपना मन बहला रही है। मानो यह सब गोरांगी उस प्यारी दुल्हन गौरी की सहचरी, और सहेलियाँ हैं, जो शिवाजी के सहचरों से मिल मनमानी केलि कर रही हैं, और यह श्वेत वस्त्रा मानों श्वेत विभूतिधारी भगवान गंगाधर के विवाह का मण्डप-सा अनुमान होता है। वाह, उस लाल महताब की ज्योति तो कुछ इन्हीं लोगों के मुख पर पड़कर अपनी स्वार्थता दिखलाती है, और इनके गुलाबी गालों को गुलेलाला बनाती जाती है। जाने दो भाई। अब इधर अधिक देखना ठीक नहीं। समय बहुत टेढ़ा है। अच्छा, अब आगे की भीड़ हट गई है, और महाराज लोग भी इधर ही देख रहे हैं। बस उचित अवसर जान जैसे ही खड़े होकर प्रणाम किया कि इशारे से आज्ञा हुई कि यहाँ आओ, सोचने लगे कि इस भारी भीड़ मे घुसकर कैसे वहां तक पहुँचेंगे यह तो असम्भव ही प्रतीत होने लगा इतने ही एक चोबदार आया और भीड़ चीड़ना किसी-किसी भाँति मुझे उन पूज्य चरणों के समीप जा उपस्थित किया। प्रणाम करके बैठने पर कुशल प्रश्नादि सम्मान जो मुझ समान सामान्य जन के लिए अवश्य ही अपार कृपा का विस्तार था, पाकर परमानन्दित मन में मान लिया कि जो सुनते थे कि—

"शुनीदा के बुअद मानिन्दे दीदा।"

(अर्थात् सुना देखे तुल्य कब होना है) सो आज आँखों देखा निदान में अनेक दिनों के लालसा ललित मेरे हृदय को आशातिरिक्त तृप्त करने लगा। यहाँ उन परम पूज्य गोस्वामी महाराजों के स्वरूपों का परिचय देना, या उनकी बड़ाई की कुछ भी चर्चा छेड़नी, मानों इस बढ़ते प्रबन्ध को बड़ा ग्रन्थ ही बनाना है, अत: उसको दूर से प्रणाम कर, यदि इस भारी समारम्भ के वर्णन में भी चित्त-प्रवृत्त होता है, तो भी वही भय आगे आ उपस्थित होता है, अहा, क्या कहना! सभी वस्तु अदृष्टपूर्ण दृष्टिगोचर हो रही है, क्या राजश्री

और धर्मश्री परस्पर मिलकर अपनी उचित सीमा के अंतर्गत अनिवार्य शोभा का आविर्भाव कर रही है। क्या रस और मर्यादा का संगम सुहावना लग रहा है! कैसे-कैसे महा महिमावान्, धनवान्, विद्वान् और गुणवान् जन निज सन्मान को भूल दास्य भाव अंगीकार किये संसार को भक्ति भरे भारत के धर्म गौरव को दर्शाते विनीत बैठे है। अनेक वल्लभीय वैष्णव लोगों को जिनकी आँखों मे इन गोस्वामी महाराजो की प्रतिष्ठा साक्षात् भगवतस्वरूप तुल्य है, इस आनन्दोत्सव मे भी कुछ उसी ध्येय लीला का-सा आनन्द आता सा दिखाता है, और सचमुच जहाँ न केवल काशी ही वरच बहुत दूर-दूर के अनेक गाने वाली और गुणवती वारबनिताओं का समूह सुशोभित है, वहाँ किसी के चित्त में चचलता का नामोनिशान भी लखाई नही पडता, हाँ अवश्य कभी-कभी लोग विशुद्ध गुण पर रीभते मे दिखाई देते है। गोस्वामी श्रीबालकृष्णलाल जी महाराज मे रसज्ञ और गुणज्ञ गुणी गुण ग्राहक सन्मुख के खडा होकर भला कौन ऐसा गुणी है, जो अपने गुण का कोई अश किसी दूसरे गुण-ग्राहक को दिखाने को बचा रखेगा, क्योकि उन्हे स्वप्न मे उनसे बढकर गुणग्राहक और प्रसन्न कर देनेवाला किसी अन्य अमीर के मिलने की सभावना नही हो सकती। अतः परस्पर गुण-प्रदर्शन की लाग डाट और स्पर्धा की दशा की कथा अकथ है। यदि किसी स्थायी की तान मदनबान हो प्रान को बेधती, किसी के टपके की गिटगिरी कलेजे के पुरजे-पुरजे, करने मे छुरी और कटार के काम करती और किसी-किसी के नाजो अदा के साथ ठुमरी ओर गजलो का गाना अनेको के चित्त पर काँटे का चुभाना होता था।

अब हमारे पाठको की पूर्व परिचत उन दोनो बगालिनों की बारी आई कि जिन्हे हम लोगो ने मुगलसराय के स्टेशन पर देखा था।

वाह! इस समय तो इनका कुछ और ही बानक बन रहा है। बगीय वस्त्रा-लकार और सिगार के कुछ विचित्र ही बहार दिखा रहे है। इन्हे निहार चुटीले चित वाले प्रेमियो का अपने को वार फेर कर इन पर बलिहार जाना क्या आश्चर्य है? अब इन लीलावतियो की लीला कैसे लिखने मे आये, कि जो केवल देखने ही का विषय है। वाह, इनका नाटकीय बगला गान यद्यपि बग भाषा अज्ञान अनेक जनो को नही समझ पडता होगा, किन्तु हाव भाव कटाक्ष की काट से उन्हे कौन बचाएगा? देखिये तो केवल साडी पहने ये इस समय नाच रही है, परन्तु दर्शकों की आँखो से पूछिए कि वे अपनी नाच भूल कर एकटक लगाये मानो धन्य धन्य कहा चाहती है। वस्तुतः उनके दलाते नितम्ब को चुम्बन करनेवाली खुली काली कुन्तलावलि तो व्यालिनी-सी रसिको के चित्त को डँस रही है? यो ही उन कुरग-लोचनो की फेर-फार काम की कटार का काम कर कितनहू का काम तमाम किया चाहती है, वाह!

इन गालो की लीला तो लाल के लालित्य को भी लज्जित कर रही है और इन मधुर अधरो से निरसृत स्वर स्वाभाविक ही सुधास्रावसा श्रवणानन्ददाई है, फिर ब्रजभाषा की माधुर्य सरस स्वाद को सौगुना बढा रही है।

"यमुना पुलीने बोशी कादे राधा विनोदिनी" ! बलिहार ! बलिहार ! कहना मन जो उस रस मे फँसा तो बस, कुछ काल तक इसका कुछ परिज्ञान ही रहा, कि यहाँ क्या हो रहा है, परन्तु आश्चर्य का विषय तो यह है कि—

इस सुवृहत् जन सघट्ट और भारी महा सभा मे कही किसी के मुख से प्रसन्नता सूचक वा प्रशसामय कोई शब्द नही निकलता। महाराज लोगो के अदब से मानो सबकी जिह्वाएँ दाँतो के तले दब रही है, जिस कष्ट से यदि कभी किसी को कुछ मस्तक भी हिलना तो कदाचित् भय के भार ही के कारण से अनुमानित होता, फिर भला बतलाइये तो ऐसे स्थल पर हम सरीका की कैसे विधि मिल सकती है, और स्वाभाविक सुख-सामग्री का परित्याग हो सकता है। सब सावधानी सपर सकती है। परन्तु आनन्द उन्मत्त होकर बिना वाह ! वाह ! किये तो नही रहा जा सकता। एव सहस्रो सभ्या के सम्मुख नियम विरुद्ध कार्य ठीक नही।

और फिर अब किसी दूसरे तायफे के तमाशे को देखकर इस सभा को दिल मे भुलाना भी अनुचित ही है। रात भी अब थोडी ही है, दो दिन की उनीदी आखे अब अपना कहना भी नही करती, अतः खिसकना ही ठीक है। यह विचार किसी-किसी भाँति आज्ञा ले औ अभिवादन कर ज्यो ही चले कि एक अनजाने मनुष्य ने आकर हाथ पकड़कर एक-दूसरे ही ओर घसीट ले चला। मै बहुत ही चौकन्ना हुआ और बारम्बार उससे पूछने लगा, कि क्यो ? भाई क्या कहाँ लिए जाते हो ? चलो तो आओ। अजी तुम हो कौन, बतलाओ भी तो ?"—अजी चले भी तो आओ चुपचाप। है, यह क्या बात है तुम हो कौन" "बडे बेवकूफ हो तुम्हे इतना भी सऊर नही, यो बेगाना भी कही हाथ पकड घसीटेगा, औ इतनेक लोगो मे'। अवश्य ही मुझे उसका स्वर परिचित बोध होने लगा, तो भी यह कौन है, मै निश्चय न कर सका।

अब यह मुझे घसीटता और कई नौकाओ पर से डाँकता-कूदता जाकर एक सामान्य बडे बजड़े पर ले गया, जिसके बाहर से तो यही निश्चय होता कि इसमे कोई विशेषता नही है, परन्तु भीतर तो वह बस "नूह की किश्ती", ही अनुमान होने लगा, कि जिसमे सबी सुख की सामग्री सचित है और ऐसे-ऐसे दर्शनीय पदार्थ कि जो कहने मे नही आ सकते। वहाँ पहुँच उसने पूछा कि "कहो वहाँ कुछ मजा आया?' मैने कहा कि—कैसा कुछ कि कहने मे नही आ सकता। कहा "खैर आप यही मजे से चैन कीजिए, मैं जरा फिर वही जाता हूँ, और अभी चला आता हूँ। मैने कहा कि ठहर नही सकता, कृपाकर यह बतला

दीजिये कि यह कैसा अनुष्ठान है, आप कब कहाँ से कहाँ आ पहुँचे, और अब तक क्या करते थे ? उसने कहा हज़रत ! यह फिसानये अजायब आज़ाद के सुनाने का वक़्त नहीं, इसके लिए बहुत फ़ुरसत दरकार है, अब मुझे जाने दीजिए और आप कहीं न जाइये, यहां क्या कम लुत्फ़ है, "अजी यह तो कहो कि यह किसकी किश्ती और किसका सब सामान है" ।

यह सब अपना ही कारखाना ही समझिये, मैं अभी आता हूँ, तो और बाते करता हूँ । आप तसरीफ रखे । जी नहीं, दो दिन का जगा हूँ, अब जाकर सोऊँगा । आप कहाँ टहरे हैं, और फिर वहाँ पर मिलियेगा "मैं वहाँ से उड़कर यही सब सामान करता रहा, और तब से मय कुल सामानी सफर यही हूँ दोपहर को तो कहीं और जगह जा रहता हूँ, नहीं तो इसी उड़न खटोलने को इधर से उधर उड़ाता, जिधर जी चाहता है घूमता हूँ, मगर जब तक गुलाबी कच्छे पर तमाशा होता रहता है, वही किसी कोने में छुपा मैं भी खुदा की शान का तमाशा देखा करता हूँ । आप भी यहीं आराम फ़रमाइये, और सब सामान भी यहाँ मौजूद ही है, क्यों कही जाइयेगा और आइयेगा । जी नही मुझमें इतना साहस नहीं ।" खैर, अगर आपका जी नही लगता, तो बदकिस्मती के मारे घूमिये. मैं तो यहाँ से कही जाता नही, अपना ठिकाना भी तुम्हे बतला दिया, अगर मिलना हो तो चुपचाप अकेले यही मिल लीजियेगा; मगर खबरदार इस राज़ को और पर हरगिज़ हरगिज़ जाहिर न कीजियेगा । अस्तु मैं किसी प्रकार उससे अपने को भी छुड़ा फिर अपने पुराने टिकाने आ पहुँचा ।

पाठक! क्या आपने नहीं समझा कि यह कौन महाशय थे! यह वही लखनऊ निवासी मेरे प्रिय मित्र थे, कि जिन्हें हम लोग ढूंढते-ढूंढते थक गये, और वे अब तक न मिले थे । भला वह क्यों मिलने लगा, जो एक अपूर्व आनन्द का सत निकाल चुपचाप अकेले आप ही को तृप्त करना चाहता है । यहाँ का रंग देख उसने भी यह गुलाबी ठाठा कि अचानक मैं भी उसे न पहचान सका फिर दूसरा कोई कब ताड़ सकता था ? उसके वेष और परिच्छद में कहीं लखनऊपन का पता भी नही रहा, लखनऊ के चिकन के अगरखे के स्थान पर गुलाबी ग्वार्नेट का कोट, और सलमे की कामदार गोल टोपी के स्थान पर बनारसी गुलाबी सेल्हा और फिर वैसा ही दुपट्टा । अस्तु इनको उस गुप्त नौका का वृत्तांत, जिसका कि नाम उन्होने 'उड़न खटोलना', और मैंने 'किश्तियेनूह' रक्खा है, यद्यपि सर्वथा अकथ है, तथापि यदि अवसर मिला तो फिर कुछ चर्चा चलायेंगे । प्रात:काल हो चुका था, डेरे पर पहुँचते-पहुँचते दिन भी कुछ चढ़ आया, नित्य कृत्य से निवृत्त हो जो सोये, तो संध्या को औरों से जगाये गये अस्तु फिर उसी पाठ पढ़ने के चलते-चलते आठ और राजघाट पहुँचते नौ बजे,

क्योंकि आज यहीं से आरम्भ करने का विचार स्थिर हो चुका था। जहाँ से जो नौका पर चढ़कर चले, तो आज मेले की कुछ दूसरी ही शोभा लखाई पड़ने लगी, मानो मेले की दशा भी आज उस तरुणी की युवावस्था की सी है जिसमें मनोहरता और निकाई अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँचाना चाहती है। राजघाट की ओर से सभी नौकाएँ अस्सीघाट की ओर चली जा रही है। ऐसा अनुमान होता है कि मानो आज श्री गंगाजी अपनी धारा उलटकर पश्चिम की ओर बहा रही है, और प्रवाह के कारण स्वयं सब नौकाएँ उधर ही बही जा रही है। अथवा गंगाजी आज आकाशगंगा देवों का आकाशमार्ग (टहर) बन गई है जिसपर से बुढ़वा मंगल मे आये देवताओं के विमान बरात के संग विदा होकर मानो अब दूल्हे के घर कैलाश को जा रहे है। अहा, ये असंख्य नौकाएँ इस शीघ्र गति से आपस में बचती-बचाती ऐसी उड़ी चली जाती है, कि जैसे लोटाभंटा के मेले मे असंख्य पतंग उड़ानेवालों की लाग डाँट अलग अमल आकाश मे डोर की जोर पर छूटी अनेक प्रकार की रंग-बिरंगी पतंगें आपस मे पेंच खाती और बचती-बचाती वेग से बढी चली जाती है। यों ही इन नौकाओं पर प्रज्ज्वलित नाना रंग-रंजित, दर्पण-वर्ण के मध्य से मोमबत्तियों और रंग-बिरंगी महताबों के प्रकाश की आभा जाल मे पड़कर मानो एक्की एक्की दून लगाती ऐसा अनुमान कराती कि कदाचित् श्री गंगाजी ने अनेक रंग के असंख्य कमल खिलाये है, वा भगवती भागीरथी ने अपने प्रिय पति रत्नाकर समस्त अमूल्य रत्नों का हार बनाकर निज प्रिय सखी काशी के गले मे पहिनाना चाहती है। वाह! अनेक घाटों पर भी आज रोशनी हुई है, यह तो इस समय मानो सड़क की लालटेन वा मील के पत्थरों का कार्य दे रही है क्योंकि इस समय इनके न रहने से न तो तट, और न घाटों की संज्ञा का ज्ञान हो सकता है। यह क्या मणिकर्णिका महातीर्थ है? वाह! यहाँ की रोशनी तो मानो बतला रही है कि, सच्ची रोशनी बस यही है; और सब रोशनियाँ झूठी है? अनेक चिताएँ जल रही है? और अनेक शव स्थान-संकोच के कारण कफन लपेट पड़े है; तथा सैकड़ो जन रोने-बिलखते लखाई पड़ रहे मानो इस मसल की सच्चाई साबित कर रहे है, कि—"दुनिया भी है क्या बलन्दी सराय। कहीं खूब खूबी कहीं हाय हाय।" क्यों नहीं, मुण्डमालधारी भगवान भूतनाथ रुद्र की राजधानी काशी है न कि जिसका नाम महाश्मशान है।

कदाचित् यही उनके कार्यालय का स्थल भी है। क्योंकि "चिता भस्मा-लेपी गरलमशनम्" को श्मशान का निवास ही प्रिय है। सच है, सच्चे उदासीन और विशुद्ध विरक्त के रहने के योग्य इसके सिवा और कोई स्थान भी तो समीचीन नहीं है। जिसके तनिक देखने ही से विचित्र ज्ञानोदय होता, और

पाप का भय, तथा धर्म की चिन्ता होती है इसी से श्मशान भी एक मुख्य ज्ञान का स्थान माना गया है।

धन्य काशी कि जहाँ बलात्कार उच्चातिउच्च तथा नीच म्लेच्छ आदि को भी यह दृश्य देख ज्ञान लाभ करने का अवसर मिलता, पाप करते भी धर्म अधर्म शिक्षा मिलती है। देखिए आज इसी ओर से कई सौ नौकाएँ, और सहस्रों मनुष्य गये है ? पर क्या किसी को कुछ भी ज्ञान लाभ हुआ होगा ? उन्हें कैसे ज्ञान लाभ हो जो इधर देखते ही नहीं।

धन्य है हिन्दू धर्म तथा उनके विश्वास सन्मान को कि मध्य नगर में यह प्राचीन पवित्र तीर्थ आज भी ज्यों का त्यों अपना प्रताप दिखाता वर्तमान है। नही तो इस अंग्रेजी सफ़ाई की सनक के समय में इसका यो यहाँ अपने पूर्व कार्य को करते रहना कितना असम्भव है, विशेषत. जब कि प्रति वर्ष यह अनेक लाट और राजप्रतिनिधियों के दृष्टिगोचर होता ही रहता है ? यह क्या बारह बज गये, कि जो मन्दिरो मे आधी रात को नौबत बज रही है। धन्य, यह भी हम आर्यों की प्राचीन चाल है, मानो यह अब जागृतों को शयन मे अतिकाल होने की सूचना दे रही है। अच्छा भाई ? तनिक और शीघ्रता से खेओ। यद्यपि अस्सी घाट अभी दूर है, पर नौकाओं का झुंड इधर घना हो चला, जान पडता है कि आज भी कुछ नई नौकाएँ पटी है।

मारुत के शीतल झकोरों के साथ हमारी नौका शीघ्रतापूर्वक अब सुसज्जित नौकाओं के बीच से होती हुई अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गई।

यद्यपि कि उस काल का मनोरम चित्र यही कहता था कि टुक और रुको, देखो, पर कार्य अपनी आतुरता के घोड़े पर सवार, शीघ्र से ही इस अनोखे मेले से प्रस्थान करने के लिए प्रेरित कर रहा था। अस्तु मैं शीघ्रता से वहाँ से चलकर अपने साथियों से छुट्टी ले मेले की प्रतिमा और सफलता का चित्र हृदयगम किये हुए अपने आश्रित गणो से शीघ्र चलने के लिए शीघ्रता कराते हुए जल्दी क़दम बढ़ाते हुए, मेले के अनुपम वातावरण को छोड़ आगे बढ़ता हुआ चल पड़ा।

3

इनकम टैक्स

—प्रतापनारायण मिश्र

यदि इस शब्द का यही अर्थ है कि 'आमदनी पर महसूल' तो न जाने हमारी सरकार ने हम लोगो की किस आय की वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बाँधा है ! पुराने लोगो से सुनते है कि 'उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान', पर इस काल मे यह कहावत पूर्णरूप से उलट गयी है। खेती की दशा पर हमे कुछ लिखने की आवश्यकता नही है। जो चाहे दिहात मे जाके देख ले, बिचारे कृषिकारो के बारहो मास दिन रात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारि भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है। क्या जाने किस भवि यत् ज्ञानी कवि ने आजकल की दशा पहिले से सोच के मद्य और विषपान करने के बराबर ही हल-ग्रहण को भी त्याज्य समझा हो, और 'हालाहल हलाहलम्' लिखा हो।

उसमे उत्तर के व्यापार समझा जाता था, सो कुछ कहना ही नही। हर शहर के प्रत्येक रोजगारी की दशा सरकार को हम यो नही समझा सकते, जब तक न्याय दृष्टि से स्वय कुछ दिन किसी बाजार का वह गुप्त रूप न देखे। हम जितनी बडी-बडी दुकानें देखते है, सभी भॉय-भॉय होती है। जिन्होने हजारो रुपया अटका दिया है, उनका ब्याज भी कठिन हो रहा है। दिवाले निकालना खेल-सा हो गया है। अमीर कहाते है वे फी सैकडा दो-तीन से अधिक न होंगे, जिन्हे रोजगार पेटे कुछ मिल रहता है, नही तो केवल पूर्वसचित द्रव्य ही मे पुरानी साख बाँधे बैठे है। ऐसा कोई कार ही नही जो सरकार ने निज हस्तगत न कर ' या हो। इस हालत मे बिचारे छुटभइये लाइसेन्स और चुगी के डर से, पहिले तो कुछ कर नही सकते, यदि कुछ करें तो तीन खाते है तेरह की भूख बनी रहती है।

हमारा कानपुर जो अब से दस वर्ष पहिले था, अब नही रहा। यह तो रोज सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, पर यह सुनने को हम मुद्दत से तरसते है कि इस साल फलाने इस काम मे बन बैठे। जब आमदनी के इन

उत्तम और मध्यम मार्गों की यह दशा है तो सेवा-वृत्तियों का कहना ही क्या? सैकड़ो पढे-लिखे मारे-मारे फिरते हैं। बिना सिफारिश कोई सेत मे नही पूछता। कुछ मिडिल क्लास की पख, कुछ बेकदरी के बायस से बिचारे बाबू लोग महँगी कैसे मजदूर उतारते फिरते है। कहार ढूंढो तो मुश्किल से मिलै, नाच-वाच के लिए वेश्या बड़े नखरे से आये पर हमारे 'इन्लाइटेड' भाई से झूट-मूठ भी कहि देव कि फलानी जगह एक हेड की जरूरत है, बस एक के बदले पचास, चुगा फलकारते, मुरैठा सम्हालते मौजूद है। अगले लोग जिस नौकरी को निकृष्ट वृत्ति और शूद्र का काम समझते थे कि उसकी लालसा बड़े-बड़े वाजपेयी ऐसी रखते है जैसी मतवाले भाई मुक्ति की न रखते होगे। वह नौकरी जिनको महादेवीजी की दया से मिल भी गयी है उनको बबुआई की टसक मारे डालती है। सुनते है, आगे चार रुपया महीने का नौकर अपने कुटुम्ब के सिवा दो-चार और आश्रितो का भरण-पोषण कर लेता था, पर हमको इसका निश्चय क्योंकर हो, जब देखते है कि सौ-सौ दो-दो सौ के नौकर भी, राम झूठ न बुलावै, सौ पीछे पचहत्तर तो अवश्य ऐसे होगे जिनको हजरत गालिब का यह वाक्य अनुभूत सिद्धान्त है—

बस कि लेना हूँ हर महीने क़र्ज
और रहती है सूद की तकरार। •
मेरी तनख्वाह मे तिहाई का
हो गया है शरीक साहूकार।

तो भी धन्यवाद है कि खेतिहरो और लालो से फिर भी बाबू जी बाबू तो कहाते है। हाँ, प्रोहत, पाधा, पंडा और गयावाल इत्यादि की दशा कुछ अच्छी कह सकते थे, क्योंकि उन्हे बेमेहनत घर बैठे लक्ष्मी आती है और हमारी उपर्युक्त लोकोक्तियाँ भी ठीक होती है कि—

'उत्तम भिक्षा वृत्ति है, फिर बबुआई जान,
अधम बनिज बैपार है, खेती खोटि निदान।'

पर नही, जब यह विचार होता है कृषक, व्यापारी अथवा सेवको की यही गति रही तो कहाँ से किसी को कुछ दे सकेगे? बस, अब हमारा यह सिद्धान्त सत्य होने मे किसी को कुछ सदेह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानो के सात सौ वर्ष के प्रचड शासन द्वारा फैला था, उतना, वरच उससे अत्यधिक, इस नीतिमय राज्य मे विस्तृत है। अब बतलाओ, पाठकगण! इनकम टैक्स का कोषस्थ अर्थ ठीक है वा नही? इसका अर्थ यो न लगेगा।

अग्रेज़ी व्याकरण खोलो, उसमे लिखा है कि 'इन' 'अन' और 'डिस' किसी शब्द के प्रथम जोड़ दो तो उलटा अर्थ हो जाता है। *Diiect* डाईरेक्ट—

सीधा, Indirect—जो सीधा न हो, Known नोन—ज्ञात, Unknown अन-नोन—अज्ञात, Mount चढ़ना, Dismount—उतरना, इस रीति से in इन अर्थात् नहीं है. come कम—आना, आमद Tax (टॅक्स) कर। भावार्थ यह हुआ कि जिस हालत मे आमदनी न हो उसमें जो टैक्स लगे वह 'इनकमटैक्स' है। इस पर यदि हमारे अंग्रेज़ी जाननेवाले पाठक यह कहे कि उटपटांग अर्थ किया है, और केवल नागरी नागर समझें कि अन्य भाषा का अर्थ असबद्ध है, हिन्दी पत्र मे क्यो लिखा ? उनको यो समझना चाहिए कि हमारी सरकार को ब्रह्मदेश की आमदनी अनायास हाथ लगी है, इसकी खुशी मे हम पर यह टॅक्स (बहुत खुश हुए तो ईट फेंक मारी) न्यायत लगाया गया है।

कुछ हो, हम समझें वा न समझें, पर सरकार की किसी बात मे रोना-चिल्लाना वा तर्क करना योग्य नही, केवल 'डिफ़िनेच्छा बलीयसी' कहके सतोष करना चाहिए था, पर क्या करे, सम्पादक धर्म तो परम कठिन है। इसमे कुछ बिन कहे उमग की हत्या होती है। इसे कोई सुने वा न सुने पर हम हाथ जोड के, पायँ पड़ के, दांत दिखा के, पेट खला के यही विनय करते है कि अस्तु, हुआ सो हुआ हमें क्या, जहाँ और सब प्रकार के राजदंड है, वहाँ एक यह भी सही, वरच और हो (परमेश्वर न करे) तो वह भी सही, पर इसकी तफशीश (जाच) जरा न्यायशील पुरुषों को सौपी जाय तो भी बड़ी दया हो। हमने कई विश्वस्त लोगो से सुना है कि देहात मे जिनकी वार्षिक आय पाँच सौ भी नही है, उनको केवल उजले कपड़ो के कारण पाँच हजार का पत्रक तजबीज करते है। यदि यही दशा रही तो भारत के गारत होने मे कोई सदेह न होगा। हमारी सरकार स्वय विचार देखे कि अब हम वह नही रहे।

4

श्यामपुर

—जगमोहन सिंह

भारतखंड में अनेक खंड है पर आर्यावर्त-सा मनोहर और कोई देश नहीं, पृथ्वी के अनेक द्वीप-द्वीपान्तर, एक-से-एक विचित्र, जिनका चित्र ही मन को हरे लेता है, वर्तमान है। पर आर्यावर्त-सी पुण्यभूमि न तो आँखो देखी और न कानो सुनी। इसके उत्तर भाग की सीमा मे हिमालय-सा ऊँचा पर्वत, जो पृथ्वी के मानदंड के सदृश है भूगोल-मात्र मे ऐसा दूसरा नही। गंगा और यमुना-सी पावन नदी कहा है, जिनके जल साक्षात् अमृतत्व को पहुँचानेवाले है?

त्रिपथगा की, जो आकाश-पाताल और मर्त्यलोक को तारनी है, कौन समता कर सकता है? सुर और असुरो के मुकुट-कुसुमों-सी रजराशि की परिमलवाहिनी, पितामह के कमंडलु की कर्मरूपी द्रवधारा, धरातल मे सैकडो सगरसुतो को सुरनगर पहुँचाने की पुण्य डोरी, ऐरावत के कपोल घिसने से जिसके तट के हरिचंदन स तरुवर स्यंदन होकर सलिल को सुरभित करते है, गंध से अंध हुई भ्रमरमाला, छंदोविचिति की मालिनी असतससारहित भी तमसा के सहित भगवती भागीरथी हिमालय की कन्या-सी जगत् को पवित्र करती हुई नरक से नरकियों को निकालती है, इस असार ससार की असारता को सार करती है। भगवान् मदनमथन के मौलि की मालती की सुमनमाला, हलाहलकंठवाले के काले बालो की विशाल जाला, पाला के पर्वत से निकलकर सहस्र कोसो बहती विष्णु से जगत्व्यापक सागर से मिलती रहती है, इसकी महिमा कौन कह सकता है?

यम की छोटी बहिन यमुना से सख्यता करने से यमराज-नगर के नरकादि बंदियो की मुक्ति कराने मे कुछ प्रयास नहीं होता। प्रयागराज मे यमुना की सहचरी होकर इस बात को दरसाती है, इसका समागम इस स्थल पर उनकी श्याम और सेत सारी प्रकट होता है।

इसके दक्षिण विंध्याचल-सा अचल उत्तर-दक्षिण को नापता भगवान

अगस्त्य का किंकर दंडवत् करता हुआ विराजमान है। इसके पुण्य-चरणों को धोती मोती की माला की नाईं मेकलकन्या बहती है। यह पश्चिमवाहिनी जिसकी सबसे विलग गति है, अपनी बहिन तापती के साथ होकर विंध्य के कंदरों की दरी में तप करती सूर्य के ताप से तापित, सोनो के सदृश अपने बहुवल्लभ सागर में जा मिलती है। इसी नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल के नाम से प्रसिद्ध है।

याही मग ह्वै कै गए दंडक बन श्रीराम।
तासों पावन देस यह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूँ? कहीं-कहीं कोमल श्याम, कहीं भयानक और सूखे रूखे वन, कहीं झरनों का झंकार, कहीं तीर्थ के आकार मनोहर-मनोहर दिखाते हैं। कहीं कोई बनैला जंतु प्रचंड स्वर से बोलता है, कहीं कोई मौन ही होकर डोलता है। कहीं विहंगमों का शोर, कहीं पिककूजित कुंजों के छोर, कहीं नाचते हुए मोर, कहीं विचित्र तमचोर, कहीं स्वेच्छाहार विहार करके सोते हुए अजगर, जिनका गंभीर खर्राटा कंदरों में प्रतिध्वनित हो रहा है, कहीं भुजंगों की श्वास में अग्नि की ज्वाला प्रदीप्त होती है, कहीं बड़े बड़े भारी भीम भयानक अजगर सूर्य की किरणों में घाम लेते हैं, जिनके श्याम मस्तकों पर झरनों के कनूके पड़ते हैं, शोभित हैं।

जहाँ की निर्झरनी, जिनके तीर वानीर के भिरे मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं, शब्दायमान होकर झरती हैं।

जहाँ के गिरि-शिखर कुहिरे के तिमिर से छाए हैं। इनमें से भानुजी शृंगार करती निकलकर पुष्पों की घाटियों के बीच प्रतिदिन विचरती दिखाई देती है। जहाँ के सल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़-रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है।

ये वही गिरि हैं, जहाँ मत्त मयूरों का जूथ वरूथ का वरूथ होकर वन को अपनी कुहुक से प्रसन्न करता है। ये वही वन की स्थली है, जहाँ मत्त हरिण-हरिणियों समेत विचरते हैं।

मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन कि सूर्य की किरणों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं। कुंज में तम का पुंजन है, जिससे श्याम तमाल की शाखा निंब के पीत पत्रों से मिली है। रसाल का वृक्ष अपने विशाल हाथों को पिप्पल के चंचल प्रवालों से

मिलाता है। कोई लता जबू से लिपटकर अपनी लहराती हुई डार को सबसे ऊपर निकालती हैं। अशोक के ललित पुष्पमय स्तबक झूमते हैं। माधवी तुषार के सदृश पत्रों को दिखलाती है, और अनेक वृक्ष अपनी पुष्पनमित डारो से पुष्प की वृष्टि करते हैं। पवन सुगन्ध के भार से मंद-मद चलती है, केवल निर्झर का रव सुनाई पड़ता है। कभी-कभी कोइल का बोल दूर से सुनाता है और कलरव निकट स्थित वृक्ष से सुनाई पड़ता है। ऐसे दडकारण्य के प्रदेश मे भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलो की झाडी और मनोहर पहाडी के बीच होकर बहती है, कङ्कगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक-अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से बहुत-से तीर्थ और नगरो को अपने पुण्यजल से पावन करती पूर्व समुद्र मे गिरती है।

इस नदी के तीर अनेक जगली गाँव बसे है। वहाँ के निवासी वन्य पशुओ की भाँति आचरण करने मे कुछ कम नही है पर मेरा ग्राम इन सभो से उत्कृष्ट और शिष्टजनो से पूरित है। उसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि वह कैसा ग्राम है। इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामपुर है, यहाँ के आम आराम थकित पथिक यात्रियो को विश्राम और आराम देते है। यहा क्षीर-सागर के भगवन् नारायण का मदिर मुखकद इसी गगा के तट पर विराजमान है। राम, लक्ष्मण और जानकी की मूरते सजीव सूरते-सी झलकती है। ऐसा जान पडता है मानो अभी उठती बैठती हो। मदिर के चारो ओर गौर उपल की छरदिवाली दिवाली की शोभा को लजाती है। मदिर तो ऐसा जान पडता है मानो प्रालेय-पर्वत का कदर हो। भगवान् रामचन्द्र के सम्मुख गरुड़ की सुदर मूर्ति कर-कमल जोड़े सेवा की तत्परता सुझाती है। सोने का घटा, सोने की ही साँकर मे लटका धर्म के अटका-सा झूलता दीन-दुःखी दर्शनियो के खटका को मटकाता है। भटका-झटका भी कोई यद्यपि किसी दुःख का झटका खाए ही यहाँ आकर विराम पाता है, और मनोरजन दुखभजन खजन गजन विलोल-विलोचनी जनकदुलारी के कृपा-कटाक्ष को देखते ही सब दुःख दारिद्र छुटाता है।

देवालयो की अवली नदी के तीर मे नीर पर परछाही फेकती है। ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊँचे कगूरों से वह अम्बर को छूती है, उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है। जहाँ विचित्र पाठशाला, बाला और बालक-पाठशाला, न्यायाधीश और प्रबधको के आगार बनियो का व्यापार, जिनके द्वारे फूलों के हार टंगे हैं, जहाँ के राजपथो पर व्यापारियों की भीर सदैव गम्भीर सागर-सी बनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है, जो लिखने के बाहर है।

पुरानी टूटी-फूटी दीवाले इस ग्राम की प्राचीनता की साक्षी है। ग्राम-

सीमांत के झाड़, जहाँ झुण्ड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गँवई की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खिरके की शोभा, जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।

यहाँ कोविद भरथरी, गोपीचंद, भोज, विक्रम (जिसे विकरमाजीत कहते हैं) लोरिक और चदैनी, मीराबाई, आल्हा, ढोलामारू, हरदौल इत्यादिको की कथा के रंजित हैं। ये विचारे सीधे-साधे बुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौड़े के चारों ओर पुआल बिछा-बिछा के अपने परिजनों के साथ युवती और वृद्धा, बालक और बालिका, युवा और वृद्ध सबके सब बैठ कथा कह दिन बिताते हैं। कोई पढ़ा-लिखा पुरुष रामायण और ब्रजविलास की पोथी बांचकर टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ कह सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है। 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'। कोई लड़ाई का हाल कहते-कहते वेहाल हो जाता है, कोई किसी प्रेमकहानी को सुन किसी की प्रबल विरह-वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है। कोई इन्हे मूर्ख ही समझकर हँस देता है, यह भोली कविता भी वैसी होती है। अनुप्रास भी इन ग्रामीणों को सुखद होता है। धानों के खेत, जो ग़रीबों के धन है, इस ग्राम की शोभा बढ़ाते है. मेरा इसी ग्राम का जन्म है।

5

मेले का ऊँट

-बालमुकुन्द गुप्त

भारत-मित्र सम्पादक । जीते रहो — दूध बताशे पीते रहो! भाँग भेजी सो अच्छी थी । फिर वैसी ही भेजना । गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहनमेले' के लेख पर निगाह पड़ी । पढ़कर आपकी दृष्टि पर अफसोस हुआ । पहली बार आपकी बुद्धि पर अफसोस हुआ था । भाई ! आप की दृष्टि गिद्ध की-सी होनी चाहिए, क्योंकि आप सम्पादक है । किन्तु आपकी दृष्टि गिद्ध-सी होने पर भी उस भूखे गिद्ध की सी निकली, जिसने ऊँचे आकाश मे चढ़े-चढ़े भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा पर उसके नीचे जो जाल बिछ रहा था, वह उसे न सूझा । यहाँ तक कि उस गेहूँ के दाने को चुगने से पहले जाल मे फँस गया ।

'मोहन मेले' मे आपका ध्यान दो पैसे की एक पूरी की तरफ गया । न जाने आप घर से कुछ खाकर गए थे या योंही । शहर की एक पैसे की पूरी मेले मे दो पैसे की हो तो आश्चर्य न करना चाहिए, चार पैसे भी हो सकते थे । यह क्या देखने की बात थी ? तुमने व्यर्थ बाते बहुत देखी, काम की एक भी तो देखते दाईं ओर जाकर तुम ग्यारह सौ सतरो का एक पोस्टकार्ड देख आए पर बाँई तरफ बैठा ऊँट भी तुम्हे दिखाई न दिया । बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे । कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते मे ऊँट नहीं होते इसीसे मोहन मेले वालो ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया था । बहुत-सी शौकीन बीबियाँ ओर कितने ही फूल बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दाँत निकालते चले गए । तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये । और झुक कर उस काठ के घेरे मे बैठे हुए ऊँट की तरफ देखने लगे । एक ने कहा—'ऊँटड़ो है ।'

दूसरा बोला—'ऊँटड़ो कठेते आयो ?' ऊँट ने भी यह देख दोनो ओठो को फड़काते हुए थूथनी फटकारी । भग की तरंग में मैंने सोचा कि ऊँट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओ से कुछ कहता है । जी मैं सोचा कि चलो— देखे, वह क्या

कहना है ? क्या उसकी भाषा मेरी समझ मे न आवेगी। मारवाड़ियो की भाषा समझ लेता हूँ तो मारवाड़ के ऊँट की बोली समझ मे न आवेगी ? इतने मे तरंग कुछ अधिक हुई। ऊँट की बोली साफ साफ समझ मे आने लगी। ऊँट ने मारवाड़ी बाबुओ की ओर थुथनी करके कहा—

बेटा ! तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे ? यदि मेरी उमर का कोई होता तो वह जानता। तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मै कौन हूँ, क्या हूँ। तुमने कलकत्ते के महलो मे जन्म लिया। तुम पोतड़ो के अमीर हो। मेले मे बहुत चीजे है, उनको देखो। और यदि तुम्हे कुछ फुरसत हो तो लो सुनो, सुनाता हूँ। आज दिन तुम विलायती फिटिन, टमटम और जोड़ियो पर चढ़कर निकलते हो, जिनकी कतार तुम मेले के द्वार पर मीलो तक छोड़ आये हो, तुम उन्ही पर चढ़कर मारवाड़ से कलकत्ते नही पहुँचे थे। यह सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई है। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होगे इससे वह भी मुझे भली-भाँति नही पहचानते। हाँ, उनके भी बाप हो तो मुझे पहचानेगे। मैने ही उनको पीठ पर लादकर कलकत्ते तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहाँ थी। मैने मारवाड़ से मिरजापुर तक और मिरजापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किये है। महीनो तुम्हारे पिता के पिता तथा उनके भी पिताओ का घर-बार मेरी ही पीठ पर रहता था। जिन स्त्रियो ने तुम्हारे बाप और बाप के भी बाप को जना है, वह सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थी। मारवाड़ मे मै सदा तुम्हारे द्वार पर हाजिर रहता था, पर यहाँ वह मौका कहाँ ? इसी से इस मेले मे तुम्हे देखकर आँखे शीतल करने आया हूँ। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नही घटा है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी मे बँधा हुआ था, मै ही हल चलाकर तुम्हारे खेतो मे अन्न उपजाता था और मै ही चारा आदि पीठ पर लादकर तुम्हारे घर पहुँचाता था। यहाँ कलकत्ते मे जल की कले है, गंगाजी है, जल पिलाने को ग्वाले कहार है, पर तुम्हारी जन्मभूमि मे मेरी ही पीठ पर लदकर कोसो से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो, इस पर तुम्हारे बड़े अन्न रस्सियाँ यहाँ तक कि उपले लादकर दूर-दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड़ के पहियेवाली चमड़े की कोमल गद्दियोदार फिटिन मे बैठकर भी वैसा आनन्द प्राप्त नही कर सकते। मेरी बलबलाहट उनके कानो को इतनी सुरीली लगती थी कि तुम्हारे बागीचो मे तुम्हारे गवैयो तथा तुम्हारी पसन्द की बीवियो के स्वर भी तुम्हे उतने अच्छे न लगते होगे। मेरे गले के घण्टो का शब्द उनको सब बाजो से प्यारा लगता था। फोग

के जंगल में मुझे चरते देखकर वह उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बागीचों में भंग पीकर, पेट भरकर और ताश खेलकर।"

भंग की निन्दा सुनकर मैं चौक पड़ा। मैंने ऊँट से कहा—बस बलबलाना बन्द करो ! यह बावला शहर नही जो तुम्हें परमेश्वर समझे ! तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नही है। जो पेड़ो की छाल और पत्तों मे शरीर ढकते थे, उनके बनाये कपड़ों से सारा ससार बाबू बना फिरता है, जिनके पिता सिर पर गठरी ढोते थे, वही पहले दरजे के अमीर है, जिनके पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे, उनको सिर पर पगडी सम्हालना भारी है, जिनके पिता का कोई पूरा नाम लेकर न पुकारता था, वह बडी-बडी उपाधिधारी हुए है। ससार का जब यही रग है तो ऊँट पर चढनेवाले सदा ऊँट ही पर चढे यह कुछ बात नही। किसी की पुरानी बात यों खोलकर कहने से आजकल के क़ानून से हतक- इज्जत ही जाती है। तुम्हे खबर नही कि अब मारवाड़ियो ने 'एसोसीयेशन' बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वह रिजोल्यूशन पास करके तुम्हे मारवाड से निकलवा देगे। अत. तुम उनका कुछ गुणगान करो जिससे वह तुम्हारे पुराने हक को समझे और जिस प्रकार लार्ड कर्जन ने किसी ज़माने के 'ब्लैकहोल' को उस पर लाट बनवा कर और उसे सगमरमर से मढवा कर शानदार बना दिया है उसी प्रकार मारवाड़ी तुम्हारे लिए मखमली काठी, जरी की गद्दियाँ ही, पत्रो की नकेल और सोने की घटियाँ बनवाकर तुम्हे बड़ा करेगे और अपने बडों की सवारी का सम्मान करेगे।

6

सब मिट्टी हो गया

—माधवप्रसाद मिश्र

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया ! जो खिलौना आप दिल्ली से लाये थे, उसे श्रीधर ने तोड़ फोड़कर मिट्टी कर दिया !"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महामंडल का 'मंतव्य' पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था कि मानो कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा है। इसका कारण यह था कि मेरा इस सभा पर बहुत दिनों से विशेष भक्ति-भावना हो रही थी, क्योंकि यह महासभा मारवाड़ी बाबुओं के बगीचे की सभा न थी, जिसमें नाच-कूद के शौकीन, लड्डू-कचौरी के यार केवल भोजन-भट्ट मित्रों का स्वागत समागम ही बड़ी वस्तु समझी जाती है, और न यह 'थियेटर' के राजा इन्द्र का अखाड़ा था, जिसका उद्देश्य यह होता था कि थोड़ी देर के लिए नयनाभिराम मनोहर दृश्य दिखाकर अर्थोपार्जन वा कौतुकप्रिय अमीरों को खुश किया जाय।

यह सभा सनातन धर्म की सभा थी। जननी जन्मभूमि की सुसन्तान की महासभा थी। यह वह सभा थी, जिसके अग्रगन्ता एक दिन धन को धर्म पर वार चुके थे, प्रतिष्ठा को कर्त्तव्य के हाथ बेच चुके थे, इन्द्रियासक्ति को स्वयं ही दबा चुके थे। इनकी शत्रुता-मित्रता धर्म पर स्थित थी, व्यवहार पर नहीं। इन्द्रियलोलुप बड़े आदमियों पर इनकी घृणा थी और धर्मात्मा दरिद्र भी इन्हें प्यारे थे।

यह सभा वही विख्यात स... थी, जो बारह वर्षों से भारतवर्ष में सनातन धर्म और संस्कृत विद्या के प्रचार करने का बीड़ा उठाये फिरती है। इसलिए महासभा से पुराने वृद्ध पंडित और धर्मात्मा जन आशा करते थे कि यह देश के अनाचार दुराचार आदि की तो निवृत्ति करेगी और सदाचार की प्रवृत्ति। इसमें धर्म की जय होगी और साथ ही धर्म प्रचारक लम्पटों को भय होगा। बालक सुरक्षित बनेंगे और स्त्रियाँ निन्दित न होंगी। मूर्खों की धृष्टता बढ़ने

न पावेगी और विद्वानों का तिरस्कार न होगा। पापियों की प्रतिष्ठा न होगी और धार्मिकों का उत्साह बढ़ेगा।

इस महासभा में अबकी बार दरभंगा और अयोध्या के महाराज बहादुर का बहुमूल्य और अभ्यर्थ शुभागमन सुनकर यह नतीजा मेरे सरल अन्तःकरण ने पहले ही से निकाल लिया था कि इस बार केवल पुराने प्रस्तावों का पिष्ट-पेषण वा मंतव्य-पत्र का शुष्क पाठ मात्र ही न होगा, कोई सच्ची उदारता का मूर्तिमान उदाहरण भी दृष्टिगोचर होगा। अतएव मैं मन्तव्यपत्र को पाकर उत्कंठित हो मन्तव्य के मर्म पर ध्यान दे रहा था। अकस्मात् ऊपर लिखे हुए शब्द कान में पहुंचे, जिनसे एक बार ही मेरा ध्यान भंग हो गया।

आंख उठाकर देखा तो सामने छः वर्ष का बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे बड़े भाई का बड़ा लड़का है। उस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह देखकर मुझे बड़ी हंसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिए बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली भूमिका बना कर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। उस समय हंसकर मैं एक बात कहना चाहता था, किंतु यह सोच-कर चुप रह गया कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढिठाई को सहारा न मिले और घबराना इसलिए उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनन्द में विघ्न करने से क्या मतलब। खैर! दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटाकर हरदयाल से कहा—'श्रीधर बहुत बिगड़ गया है। उसको आज से कोई खिलौना न देंगे।' हरदयाल अपने इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह समाचार सुनाने दौड़ गया।

घर फिर निस्तब्ध हो गया, किन्तु अन्तःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ। 'सब मिट्टी हो गया है,' इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर दिया। अच्छा, मैं हँसकर बालक से क्या कहना चाहता था, वह तो सुन लीजिए। कहना चाहता था, 'जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा कि जो नष्ट या निकम्मा हो जाता है उसी का नाम है, मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है! मिट्टी के घर को कोई घर नहीं कहता, किन्तु घर के गिर जाने पर लोग कहते हैं कि 'घर मिट्टी हो गया!' हमारा यह मकान, सब मिट्टी का बना हुआ है दीवारें तो मिट्टी की है। पर ईंटे तो केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या है? पर अब किसी से पूछिए इसे मिट्टी नहीं कहेगा, फिर गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया।'

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं। और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब

विफल हो जाय, तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। किसी का धन खो जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चला जाए तो कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया।' इससे जान गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किन्तु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? यदि किसी की वस्तु अच्छे भाव पर बिकती नहीं है तो कहेंगे 'मिट्टी की दर पर माल जा रहा है।' वह माल चाहे राम के बराबर—कितना ही निकम्मा, कितना हो बुरा क्या न हो, निकृष्ट और अगौरव के स्थान पर तुरन्त उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है। क्या सचमुच मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है और हम कुछ निकृष्ट हैं नहीं? भगवति वसुंधरे! तुम्हारा 'सर्व-सहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा माँ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुन्धरा' किसने रखा? यह नाम तो प्राचीन समय का नाम है। मालूम होता है, यह नाम व्यास, वाल्मीकि पाणिनि, कात्यायन आदि मुनियों का दिया हुआ है। केवल यही नाम क्यों वसुन्धरा, वसुमती, वसुधा, विश्वम्भरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं। तुम्हें वे तुम्हारे सुपुत्र न जाने कितने आदर, कितनी श्लाघा और कितनी श्रद्धा से पुकारते थे। क्यों माता, तुम्हारे पास ऐसा धन क्या रखा है, जिससे तुम वसुधरा वसुधा के नाम से विख्यात हो? कहो तो ऐसा क्या धन रत्न रखा है, जिससे तुम 'वसुमति' कहला रही हो? मां! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अन्धकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रखे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम इसकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं? माँ! भीष्म, द्रोण, बलि, दधीचि, शिबि, हरिश्चन्द्र इनके सदृश रत्न और कहाँ है? अनसूया, अरुन्धती, सीता, सावित्री, सती, दमयन्ती इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गये। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं मानो वे एक बार ही लोप हो गये हैं। यदि कहीं लीन हुए होंगे, तो वे तुम्हारे अंग में लीन हुए हैं। जननी! जरा देखें तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं। मा! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकती है? माँ! आकाश के चन्द्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं? मा! एक बार तो अभागी सन्तान को उसके दर्शन कराओ?

माँ ! देखें उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ? भीष्मदेव का पतनक्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया। कपिल गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ? उज्जयिनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है ? आहा ! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? माँ ! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न-कण हैं, वे अमूल्य हैं और अतुल हैं।

जगदम्बा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पतिनिन्दा को सुनकर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे सभी क्षेत्र तो वर्तमान हैं। माँ ! फिर पैर कहाँ रखा जाय ? वृन्दावन-विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है। माँ ! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान में यह वंशी नहीं बजती? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है। माँ ! वियोगिनी ब्रज-बालाओं की कज्जलावत अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनंत प्रेमधारा ही मानो यमुना 'कल कल' शब्द के व्याज से हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! पुकार कर इस धारा को सजीव कर रही है। यह देख अभागिनी जनकतनया की दण्डकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि भवभूति के भवनपार्श्व वाहिनी गोदावरी के गद्गद् नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुन्तला ने जो कुछ दिन के लिए राजरानी हुई थी एवं अन्त में उस राजराजेश्वर पति से अपमानित उपहसित हो कर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकायी और त्यागी गयी कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह विकल कंठ से जो तुमसे कहा था—'भगवति वसुन्धरे ! देहि मे अंतरम्' वह आज भी कानों में गूंज रहा है। माँ ! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

माँ ! तुम्हारे रत्न कहाँ हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं ?

कोटि कोटि ऋतु पुरुष तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर।।"

इसलिए तुम्हारी समस्त भूमिका पवित्र है, रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु से ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कांति, शक्ति, स्नेह-भक्ति प्रेमप्रीति विराज रही है ! तुम्हारे प्रत्येक रेणु में धैर्य, गाम्भीर्य, महत्त्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है ; तुम्हारी प्रत्येक रज में शांति, वैराग्य विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अन्धे हैं, इन सबको देखकर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्यकृत्य प्रातःकृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हा !

माँ ! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते—

'अश्वक्रान्ते, रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पाप यन्मया दुष्कृत कृतम्।'

प्रभात के समय क्या कहकर तुम्हारा वन्दन करे ! शय्या त्यागकर नीचे पर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिए --

'समुद्रमेखले देवि ! पर्वतस्तन-मण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे।'

देवि ! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अगस्पर्श करूँगा। तुम्हे स्पर्श न करे, ऐसा उपाय ही क्या है ! समुद्रान जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अग है। इस स्थान को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ? इस समुद्रान भूमि पर जितने प्राणी रहते है, सभी को तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा। माँ ! तुम इस अपराध को क्षमा करो। तुम जननी हो, तुम क्षमा न करोगी तो कौन करेगा ? यह विशाल पर्वतसमूह तुम्हारा स्तन-मण्डल है। इस पर्वत समूह मे जितनी स्रोतस्विनी नदियाँ निकल रही है वे तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा है। इन्ही से सब प्राणी प्राणवान् है। जननी विष्णुपत्नि ! सन्तान का यह अपराध क्षमा करो। हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हे नमस्कार करते है।

हाय माँ ! आज वे सब रत्न जीवित नही है, इसी से तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी सन्तान मिट्टी हो रही है, इसीलिए तुम्हारा भी वह वसुन्धरा नाम विलुप्तप्राय है। देवी ! अब के मटियल कवियो को तो यही सूझता है कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरबस, मिट्टी में मिल जाता है॥

इसी समय हरदयाल फिर जा पहुँचा। कहने लगा—चाचा ! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुनकर वह रो रहा है। मै बोला—देख हरदयाल ! मै भी तो रो रहा हूँ। वस्तुत: इस समय मै भावविह्वल रो रहा था। दोनो नेत्र जल से छल-छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देखकर कहा—क्यो चाचा ! तुम रोते क्यो हो। खिलौना फूट गया है, इसीलिए क्या ? खिलौना तो खरीदने पर भी मिल जाएगा, इसलिए नहीं रोना। जो खरीदने पर फिर नही मिलता, उसी के लिए रोता हूँ।

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई। बालक की सांत्वना के निमित्त स्वय मुझको उठाना पड़ा। मैने विषयान्तर में मन लगाया। इस

प्रकार मेरी चिन्ता का स्रोत अर्द्धपथ ही में आकर रुक रहा। रुक जाय, समझनेवाले इसी से एक प्रकार का सिद्धांत निकाल सकते हैं। अर्थात् 'सब मिट्टी हो गया' इस बात को लोग जिस प्रकार कहते है, 'मिट्टी से सब होता है,' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई कचन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी का कचन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है। अच्छा ज़रा बालक को समझा आऊँ।

7

मारेसि मोहिं कुठाँउ

—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

जब कैकेयी ने दशरथ से यह वर माँगा कि राम को बनवास दे दो तब दशरथ तिलमिला उठे, कहने लगे कि चाहे मेरा सिर माँग ले अभी दे दूंगा, किन्तु मुझे राम के विरह से मत मार। गोसाईं तुलसीदासजी के भाव भरे शब्दों में राजा ने सिर धुनकर लम्बी सास भर कर कहा 'मारेसि मोहिं कुठाँउ— मुझे बुरी जगह पर घात किया। ठीक यही शिकायत हमारी आर्यसमाज से है। आर्यसमाज ने भी हमें कुठाँव मारा है, कुश्ती में बुरे पेच से चित पटका है।

हमारे यहाँ पूंजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। राज के और धन के गठकटे यहाँ कई आये पर शब्दों की चोरी (महाभारत के ऋषियों के कमल-नाल की तान की चोरी की तरह) किसी ने न की। यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ असुर शब्द बड़ी शान का था। असुर माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इन्द्र को भी यही उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। फिर काम पड़ा पणियों से—फिनीशियन व्यापारियों से। उनसे हमने पण धातु पाया, जिसका अर्थ लेन-देन करना, व्यापार करना है। एक पणि उनमें ऋषि भी हो गया, जो विश्वामित्र के दादा गाधि की कुर्सी के बराबर जा बैठा। कहते हैं कि उसी का पोता पाणिनि था, जो दुनिया को चकरानेवाला सर्वाङ्गसुन्दर व्याकरण हमारे यहाँ बना गया। पारस के पार्श्वों या पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि क्षत्रप या क्षत्रपावन् या महाक्षत्रप हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्य, विस्तास्य के वजन के कृशाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गये। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि यवनानी शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गये। साथ ही बारह राशियाँ मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ

पहुँचा गये। इन राशियों के ये नाम तो उनकी असली ग्रीक शकलों के नामों के संस्कृत तक में है, पुराने ग्रथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि काम में लेते थे। ज्योतिप में यवन सिद्धांत को आदर से स्थान मिला। वराहमिहिर की स्त्री यवनी रही हो या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे वेल्यूयेबल सिस्टम भी वेद में निकाला जाय पर पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। सेल्यूकस निकेटर की कन्या चन्द्रगुप्त मौर्य के ज़माने में आयी, यवन-राजदूतों ने विष्णु के मदिरों में गरुड़ध्वज बनाये और यवन राजाओं की उपाधि सोटर, त्रातर का रूप लेकर हमारे राजाओ के यहाँ आ लगी। गांधार से न केवल दुर्योधन की माँ गांधारी आई, बालवाली भेडों का नाम भी आया। बलख से केसर और हीग का नाम बाल्हीक आया। घोड़ों के नाम पारसीक, कांबोज, वनायुज, बाल्हीक आये। शको के हमले हुए तो शाकपार्थिव वैयाकरणो के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आये तो कवियों को नारंगी उपमा मिली कि ताज़ा मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की-सी नारगी। कल-चुरी राजाओं को हूणों की कन्या मिली। पजाब मे वाहीक नामक जगली जाति आ जमी तो बेवकूफ़, बौड़म के अर्थ में (गौर्वाहीकः) मुहाविरा चल गया। हाँ, रोमवालों से कोरा व्यापार ही रहा, पर रोमक सिद्धान्त ज्योतिप के कोष मे आ गया। पारसी राज्य न रहा पर सोने के सिक्के निष्क और द्रम्भ (दिरहम) और दीनार (डिनारियम) हमारे भडार मे आ गये। अरबों ने हमारे 'हिंदसे' लिये तो ताजिक, मुथहा, इत्थशाल आदि दे भी गये, कश्मीरी कवियों को प्रेम अर्थ मे हेवाक दे गए। मुसलमान आए तो सुलताना का सुरत्राण, हमीर का हम्मीर, मुग़ल का मुगल, मसजिद का मसीतिः, कई शब्द आ गये। लोग कहते है कि हिन्दुस्तान अब एक हो रहा है, हम कहते है कि पहले एक था, अब बिखर रहा है। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा वैज्ञानिक परिभाषा का कोष बनाती है। उसी की नाक के नीचे बाबू लक्ष्मीचन्द वैज्ञानिक पुस्तकों मे नयी परिभाषा काम में लाते है। पिछवाड़े मे प्रयाग की विज्ञान-परिषद् और ही शब्द गढ़ती है। मुसलमान आये तो कौन-सी बाबू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुंगल ? तो कभी कश्मीरी कवि या गुजराती कवि या राजपूताने के पंडित सब सुरत्राण कहने लग गये। एकता तब थी कि अब ?

बौद्ध हमारे यहीं से निकले थे। उस समय के वे आर्यसमाजी ही थे। उन्होंने भी हमारे भंडार को भरा। हम तो 'देवानां प्रिय' मूर्ख को कहा करते थे। उन्होने पुण्य-श्लोक धर्माशोक के साथ यह उपाधि लगाकर इसे पवित्र

कर दिया। हम निर्वाण के माने दिये को बिना हवा के बुझना ही जानते थे, उन्होंने मोक्ष का अर्थ कर दिया। अवदान का अर्थ परम सात्त्विक दान भी उन्होंने किया।

बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता, हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरों ने तो गाँव को कुछ न दिया, उन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये। इसी से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाँउ'। अच्छे-अच्छे पद तो यों सफ़ाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी दुकानो का दिवाला निकल गया। लेने के देने पड़ गये।

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, 'हिंदू' कहते हैं। जैसे परशुराम के भय से क्षत्रियकुमार माता के लहँगों में छिपाये जाते थे वैसे ही विदेशी 'शब्द' 'हिन्दू' की शरण लेनी पड़ती है और आर्यसमाज पुकार-पुकार कर जले पर नमक छिड़कता है कि है क्या करते हो ? हिन्दू माने काला चोर, काफ़िर। अरे भाई कहीं बसने भी दोगे ? हमारी मंडलियाँ भले, 'सभा' कहलावे, 'समाज' नही कहला सकती। न आर्य रहे न समाज रहा तो क्या अनार्य कहें और ममाज कहे (समाज पशुओं का टोला होता है)? हमारी सभाओं के पति या उपपति (गुस्ताखी माफ़, उपसभापति से मुराद है) हो जावें किंतु प्रधान या उपप्रधान नही कहा सकते। हमारा धर्म वैदिक धर्म नहीं कहलावेगा, उसका नाम रह गया है—सनातन धर्म। हम हवन नहीं कर सकते, होम करते है। हमारे सस्कारो की विधि—संस्कार विधि नही रही, वह पद्धति (पैर पीटना) रह गयी। उनके ममाज-मन्दिर होते है, हमारे सभा-भवन होते है। और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया, चाहे जयरामजी कह लो, चाहे जयश्रीकृष्ण, नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते है कि यह पहले-पहल ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था। प्रत्येक मंगल-कार्य के आरंभ में हिन्दू श्री गणेशाय नमः कहते है। अभी इस बात का श्रीगणेश हुआ है—इस मुहावरे का अर्थ है कि अभी आरम्भ हुआ है। एक वैश्य यजमान के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पंडित जी गरुड़ पुराण की कथा कहने गये। आरम्भ किया, श्री गणेशाय नमः। सेठ जी चिल्ला उठे—'वाह महाराज ! हमारे यहाँ तो यह बीत रहा है। और आप कहते है कि श्री गणेशाय नमः। माफ़ करो।' तब से चाल चल गयी है कि गरुड़पुराण की कथा में श्रीगणेशाय नमः नहीं कहते हैं श्रीकृष्णाय नमः कहते हैं। उसी तरह अब सनातनी हिन्दू न बोल सकते है न लिख सकते है संध्या या यज्ञ करने पर ज़ोर नहीं देते। श्रीमद्भागवत की कथा या ब्राह्मण-भोजन पर सन्तोष करते है।

और तो और, आर्यसमाज ने तो हमें झूठ बोलने पर लाचार किया। यों हम लिल्लाही झूठ न बोलते, पर क्या करें। इश्क़बाज़ी और लड़ाई में सब कुछ जायज़ है। हिरण्यगर्भ के माने सोने की कौंधनी पहने हुए कृष्णचंद्र करना पड़ता है, 'चत्वारि शृंगा' वाले मंत्र का अर्थ मुरली करना पड़ता है, 'अष्ट-वर्षोऽष्टवर्षो वा' में अष्ट च अष्ट च एकशेष करना पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के महावीर नामक कपालों की मूर्तियाँ बनाना पड़ता है। नाम तो रह गया हिन्दू। तुम चिढ़ाते हो कि इसके माने होते हैं काला, चोर या काफ़िर। अब क्या करें? कभी तो इसकी व्युत्पत्ति करते है कि हि+इंदु। कभी मेरुतंत्र का सहारा लेते हैं कि 'हीनं च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।' यह उमा-महेश्वर संवाद है, कभी सुभाषित के श्लोक 'हिंदवो विंध्यमाविशन्' को पुराना कहते हैं और यह उड़ा जाते है कि उसी के पहले 'यवनैरवनि. क्रांता' भी कहा है, कभी महाराज कश्मीर के पुस्तकालय में कालिदास रचित विक्रम महाकाव्य में 'हिन्दूपतिः पाल्यताम्' पद प्रथम श्लोक में मानना पड़ता है। इसके लिए महाराज कश्मीर के पुस्तकालय की कल्पना की, जिसका सूचीपत्र डाक्टर स्टाइन ने बनाया हो, वहाँ पर कालिदास के कल्पित काव्य की कल्पना कालिदास के विक्रम सवत् चलानेवाले विक्रम के यहाँ होने की कल्पना तथा यवनों से अस्पृष्ट (यवन माने मुसलमान! भला यूनानी नहीं) समय में हिन्दू शब्द के प्रयोग की कल्पना, कितना दुःख तुम्हारे कारण उठाना पड़ता है।

बाबा दयानन्द ने चरक के एक प्रसिद्ध श्लोक का हवाला दिया कि सोलह वर्ष से कम अवस्था की स्त्री में पच्चीस वर्ष से कम पुरुष का गर्भ रहे तो या तो वह गर्भ में ही मर जाय, या चिरंजीवी न हो या दुर्बलेंद्रिय जीवे। हम समझ गये कि यह हमारे बालिका-विवाह की जड़ कटी नहीं, बालिकारंभस पर कुठार चला। अब क्या करे? चरक कोई धर्मग्रंथ तो है नहीं कि जोड़ की दूसरी स्मृति मे से दूसरा वाक्य तुर्की-बतुर्की जवाब में दे दिया जाय। धर्म-ग्रंथ नहीं है, आयुर्वेद का ग्रंथ है इसलिए उसके चिरकाल न जीने या दुर्बलेंद्रिय होकर जीने की बात का मान भी कुछ अधिक हुआ। यों चाहे मान भी लेते और व्यवहार मे मानते ही हैं—पर बाबा दयानन्द ने कहा तो उसकी तरदीद होनी चाहिए। एक मुरादाबादी पंडित जी लिखते है कि हमारे परदादा के पुस्तकालय में जो चरक की पोथी है, उसमें पाठ है—

ऊनद्वादशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।

लीजिए चरक तो बारह वर्ष पर ही 'एज आफ़ कंसेंट बिल' देता है, बाबाजी क्यों सोलह कहते हैं? चरक की छपी पोथियों में कहीं यह पाठ न मूल में हैं, न पाठान्तरों में। न हुआ करे—हमारे परदादा की पोथी में तो है।

इसीलिए आर्यसमाज से कहते हैं कि 'मारेसि मोहि कुठाँउ'।

8

'प्रेमघन' की छाया-स्मृति

—रामचन्द्र शुक्ल

मेरे पिताजी फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता और पुराने हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे। फ़ारसी कवियों की उक्तियों को हिन्दी-कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। वे रात को प्राय: रामचरितमानस और रामचन्द्रिका, घर के सब लोगो को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढग से पढ़ा करते थे। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दुजी के नाटक उन्हे बहुत प्रिय थे। उन्हें भी वे कभी-कभी सुनाया करते थे। जब उनकी बदली हमीरपुर ज़िले की राठ तहसील से मिरजापुर हुई तब मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी। उसके पहले ही से भारतेन्दु के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना मेरे मन में जगी रहती थी। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नही कर पाती थी। हरिश्चन्द्र शब्द से दोनों की एक मिली जुली भावना एक अपूर्व माधुर्य्य का सचार मेरे मन में करती थी। मिरजापुर आने पर कुछ दिनो में सुनाई पड़ने लगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहाँ रहते हे, जो हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि है और जिनका नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी।

भारतेन्दु-मडल की किसी सजीव स्मृति के प्रति मेरी कितनी उत्कंठा रही होगी, यह अनुमान करने की बात है। मैं नगर मे बाहर रहता था। एक दिन बालकों की एक मंडली जोड़ी गयी। जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वे अगुआ हुए। मील-डेढ़-मील का सफ़र तै हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत था। बीच-बीच में खंभे और खुली जगह दिखाई पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई दिखाई न पड़ा। सड़क पर कई चक्कर लगे। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उँगली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्ति खड़ी दिखाई पड़ी। दोनों कंधों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खंभे पर

था। देखते-ही-देखते वह मूर्ति दृष्टि से ओझल हो गयी। बस यही पहली झाँकी थी।

ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया, त्यों-त्यो हिन्दी के नूतन साहित्य की ओर मेरा झुकाव बढता गया। क्वीस कॉलेज मे पढते समय स्वर्गीय बाबू रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के सहपाठियो मे थे। भारतीय जीवन-प्रेस की पुस्तकं प्राय: मेरे यहाँ आया करती थीं; पर अब पिताजी उन पुस्तको को छिपा कर रखने लगे। उन्हे डर हुआ कि कही मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाय—मै बिगड न जाऊँ। उन्ही दिनों पडित केदारनाथजी पाठक ने एक हिन्दी-पुस्तकालय खोला था। मै वहाँ से पुस्तके ला-लाकर पढा करता था। एक बार एक आदमी माथ करके मेरे पिताजी ने मुझे एक बारात मे काशी भेजा। मैं उसी के साथ घूमता-फिरता चौखभे की ओर जा निकला। वहीं पर एक घर मे से प० केदारनाथजी पाठक निकलते दिखाई पड़े। पुस्तकालय मे वे मुझे प्राय: देखा करते थे। इससे मुझे देखते ही वे वही खड़े हो गये। बात-ही-बात मे मालूम हुआ कि जिस मकान मे से वे निकले थे, वह भारतेन्दुजी का घर था। मै बडी चाह और कुतूहल की दृष्टि से कुछ देर तक उम मकान की ओर, न जाने किन भावनाओ मे लीन होकर, देखता रहा। पाठकजी मेरी यह भावुकता देख बडे प्रसन्न हुए और बहुत दूर तक मेरे साथ बात-चीत करते हुए गये। भारतेन्दुजी के मकान के नीचे का यह हृदय-परिचय बहुत शीघ्र ही गहरी मैत्री मे परिणत हो गया।

सोलह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियो की एक खासी मडली मुझे मिल गई। जिनमे श्रीयुत काशीप्रसादजी जायसवाल, बाबू भगवानदासजी हालना, प० बदरीनाथ गोड, प० उमाशकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नये-पुराने लेखको की चर्चा बराबर इस मडली मे रहा करती थी। मे भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था। हम लोगो की बात-चीत प्राय. लिखने-पढने की हिन्दी मे हुआ करती थी, जिसमे 'निस्सन्देह' इत्यादि शब्द आया करते थे। जिस स्थान पर मै रहता था, वहाँ अधिकतर वकील-मुख्तारो तथा कचहरी के अफसरो और अमलो की बस्ती थी। ऐसे लोगो के उर्दू-कानों मे हम लोगो की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसीसे उन्होने हम लोगो का नाम 'निस्सन्देह लोग' रख छोडा था। मेरे मुहल्ले मे कोई मुसलमान सब-जज आ गये थे। एक दिन मेरे पिताजी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बात-चीत कर रहे थे। इसी बीच मै उधर जा निकला पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए उनसे कहा—इन्हे हिन्दी का बड़ा शौक है'। चट जवाब मिला—'आपको बताने की जरूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत

देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया'। मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी, वह इस समय नहीं कह सकता। आज से तीस वर्ष पहले की बात है।

चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था। अब उनके यहाँ मेरा जाना एक लेखक की हैसियत से होता था। हम लोग उन्हे एक पुरानी चीज़ समझा करते थे। इस पुरातत्त्व की दृष्टि मे प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक खासे हिन्दुस्तानी रईस थे। बसन्त पचमी, होली, इत्यादि अवसरो पर उनके यहाँ खूब नाच-रग और उत्सव हुआ करते थे। उनकी हर एक अदा मे रियासत और तबीयनदारी टपकती थी। कधों तक बाल लटक रहे है। आप इधर से उधर टहल रहे है। एक छोटा-सा लडका पान की तश्तरी लिये पीछे-पीछे लगा हुआ है। बात की काट-छाँट का क्या कहना है! जो बाते उनके मुँह से निकलती थी, उसमे एक विलक्षण वक्रता रहती थी। उनकी बात-चीत का ढग उनके लेखो के ढग से एकदम निराला होता था। नौकरो तक के साथ उनका सवाद सुनने लायक होता था। अगर किसी नौकर के हाथ मे कभी कोई गिलास वगैरा गिरा, तो उनके मुँह से यही निकलता कि 'कारे बचा त नाही।' उनके प्रश्नो के पहले 'क्यो साहब' अक्सर लगा रहता था।

वे लोगो को प्राय: बनाया करते थे, इसमे उनसे मिलने वाले लोग भी उन्हें बनाने की फिक्र मे रहा करते थे। मिर्जापुर मे पुरानी परिपाटी के एक बहुत ही प्रतिभाशाली कवि रहते थे, जिनका नाम था—वामनाचार्य गिरि। एक दिन वे सडक पर चौधरी साहब के ऊपर एक कवित्त जोडते चले जा रहे थे। अन्तिम चरण रह गया था कि चौधरी साहब अपने बरामदे मे कधों पर बाल छिटकाये खम्भे के सहारे खडे दिखाई पड़े। चट कवित्त पूरा हो गया और वामनजी ने नीचे से यह कवित्त ललकारा, जिसका अन्तिम अश था—'खम्भा टेकि खडी जैसे नारि मुगलाने की'।

एक दिन कई लोग बैठे बातचीत कर रहे थे, कि इतने मे एक पण्डितजी आ पहुँचे। चौधरी साहब ने पूछा—'कहिए क्या हाल है?' पण्डित जी बोले—'कुछ नही, आज एकादशी थी, कुछ जल खाया है और चले आ रहे है।' प्रश्न हुआ—'जल ही खाया है कि कुछ फलाहार भी पिया है।'

एक दिन चौधरी के एक पड़ोसी उनके यहाँ पहुँचे। देखते ही सवाल हुआ—'क्यों साहब, एक लफ्ज मै अक्सर सुना करता हूँ, पर उसका ठीक अर्थ समझ में न आया। आखिर घनचक्कर के क्या मानी है, उसके क्या लक्षण है?' पड़ोसी महाशय बोले—'वाह, यह क्या मुश्किल बात है। एक दिन रात को सोने के पहले काग़ज-क़लम लेकर सवेरे से रात तक जो-जो काम किये हों, सब लिख जाइये और पढ़ जाइये।'

मेरे सहपाठी पण्डित लक्ष्मीनारायण चौबे, बाबू भगवानदास हालना, बाबू भगवानदास मास्टर—इन्होने उर्दू-बेगम नाम को एक बड़ी विनोदपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसमे उर्दू की उत्पत्ति, प्रचार, आदि का वृत्तान्त एक कहानी के ढग पर दिया गया था ।

कई आदमी गर्मी के दिनों मे छत पर बैठे चौधरी साहब से बातचीत कर रहे थे। चौधरी साहब के पास ही एक लैम्प जल रहा था । लैम्प की बत्ती एक बार भभकने लगी । चौधरी साहब नौकरों को आवाज़ देने लगे । मैने चाहा कि बढकर बत्ती नीचे गिरा दूँ; पर पण्डित लक्ष्मीनारायण ने तमाशा देखने के विचार से मुझे धीरे से रोक लिया। चौधरी साहब कहते जा रहे है 'अरे, जब फूट जाई तबै चलत जाबह ।' अन्त मे चिमनी ग्लोब के सहित चकनाचूर हो गई; पर चौधरी साहब का हाथ लैम्प की तरफ न बढा ।

उपाध्याय जी नागरी को भाषा का नाम मानते थे और बराबर नागरी भाषा लिखा करते थे । उनका कहना था कि नागर अपभ्रंश से, जो शिष्ट लोगो की भाषा विकसित हुई, वही नागरी कहलाई । इसी प्रकार वे मिर्जापुर न लिखकर मीरजापुर लिखा करते थे, जिसका अर्थ वे करते थे लक्ष्मीपुर—मीर समुद्र+जा=पुत्री+पुर ।

9

प्रभुजी ! मेरे औगुन चित न धरो

—गुलाब राय

सूर और तुलसी की भाँति मै यह तो नही कह सकता कि मेरे दोषों को स्वयं माता शारदा भी सिंधु की दावात मे काले पहाड की स्याही घोलकर पृथ्वी के कागज़ पर कल्प-वृक्ष की कलम से भी नही लिख सकती है। इतने भारी झूठ के मोल में दैन्य खरीदने की मुझ मे सामर्थ्य नही है। बात यह है कि वे लोग तो कवि थे, उनकी अतिशयोक्तियाँ भी अलंकार बन जाती हैं। 'समरथ को नहिं दोष गुसाँई'। महिम्नस्तोत्र के कर्ता बेचारे पुष्पदन्ताचार्य ने जो बात भगवान के गुणों के लिए कही थी (असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधु पात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनीपत्रमुर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल, तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।) वही बात सूर और तुलसी ने अपने अवगुणों के लिए लिख दी। कवि तो भगवान की स्पर्द्धा कर सकता है, क्योंकि भगवान को भी कवि कहा गया है 'कविं पुराणमनुशासितारम्'। लेकिन बेचारे गद्यलेखक की क्या ताव जो अपने छोटे मुँह इतनी बड़ी बात कह डाले। हाँ, फिर मुझमें अवगुण हैं और उनको मैं ही जानता हूँ—साँप के पैर साँप को ही दीखते हैं—उनको शायद परमेश्वर भी न जानते हों' क्योंकि जहा तक मैने सुना है, वे भले पुरुष है, पुरुषोत्तम हैं और भले आदमी दूसरो के दोषो को स्वप्न में भी नहीं देखते और देखते भी है तो सुमेरु से दोषों को राई बराबर। बुराई उनकी कल्पना की पहुँच से बाहर है।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अंतिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि छोटा आदमी हूँ। यश-लोलुपता के पीछे दु:ख भी काफ़ी उठाना उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही—जिसको मै दूसरों की आँख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की प्रारम्भ-प्रेरणा कह दूँ—मुझे इस समय जाड़े की रात मे गद्दे-लिहाफ़ का सन्यास करा रही है। रोज़ कुआँ खोदकर रोज़ पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लड़कों को पढ़ाने के लिए स्वय भी

अध्ययन करना पड़ता है। उसकी सुध-बुध भूलकर, और यमदूत नहीं तो कम से कम कजूस क़र्ज़ख्वाह की भांति प्रूफों के लिए प्रातःकाल ही अपने अवांछित दर्शन देनेवाले प्रेस के भूत (कम्पोजीटर) की माँग की भी अवहेलना करते, देश के दगो के शमन और शरणार्थियो के पाकिस्तान के निष्कासन की भाँति इस लेख को मै चोटी की प्राथमिकता दे रहा हूँ।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों मे यश को सर्वप्रथम (यह शब्द मुझे सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता का स्मरण दिलाता है) स्थान दिया है। काव्य यश मे पहले और अर्थकृते पीछे (बस वह पीछे ही रखने की बात है, भूलने की नही) कहा था। किन्तु आजकल जमाना पलटने से उसका क्रम भी पलट गया है। त्रेता युग मे लड़ाइयाँ भी यश के लिए ही लडी जाती थी। रघुवश मे कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है 'यशसे विजिगीषूणाम्' किन्तु आजकल विजय भी अर्थकृते ही की जाती है। फिर भी मुझ जैसा प्राचीनपथी चील के घोसले मे मास की भाँति अर्थाभाव के होते हुए भी, यशलोलुपता से पल्ला नही छुडा सका है। रेल की यात्राओ को यमयातनाओ के कारण (कभी-कभी वे बहुत लम्बी यात्रा करा देती है) दूर के स्थानो की सभाओ का सभापतित्व करना छोड दिया है और उनके लिए मुझे इतना ही श्रेय मिल सकता है जितना कि वृद्धा वेश्या को सती होने का। किन्तु निकट के मथुरा, अलीगढ आदि स्थानो को कुछ अधिक आग्रह करने पर नही छोड़ता। स्थानीय सभाओ मे, यदि वे निशाचरी वृत्ति वालो की न हो, तो गीता का काला अक्षर भैस बराबर जानते हुए भी गीता तक पर व्याख्यान देने और अपने अल्पज्ञ श्रोताओ का साधुवाद लेने पहुँच जाता हूँ। काले अक्षर मेरे लिए भैस बराबर ही है। वे मेरे लिए चन्द्रज्योत्स्ना-सा धवल यश और साथ ही कम से कम इस ससार मे निरुपम, और यदि स्वर्ग तक पहुँच होती तो अमृतोपम दुग्ध-धारा का सृजन कर देते है। कभी-कभी भैस की भाँति वे ठल्ल भी हो जाते है। दिमाग का दिवालियापन मै सहज मे स्वीकार नही करता और लोग करने भी नही देते। 'श्रवण समीप' क्या सारे सर के बाल सफ़ेद हो जाने पर भी अग गलित तो नही, 'पलित मुण्ड' अवश्य और करीब-करीब पचास प्रतिशत 'दशन विहीन जात तुण्डम्' का अभी 'कर धृतकपितशोभितदण्डम्' की बात नही आयी, दण्ड देने से मैं सदा बचता हूं। रामचन्द्र जी के राज्य मे दण्ड जनित कर ही था, मैं यदि राजा होता तो उसका खरहे के सीगो की भाँति अत्यताभाव करा देता, किंतु खुदा गजे को नाखून नही देता। वार्द्धक्य का, अच्छे सेकिड डिवीजन का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने पर भी, 'भज गोविद भज गोविद भज गोविंद मूढ मते' की बात सोचकर लेखनी को विश्राम नही देता।

यश-लोलुप होते हुए भी नेतागिरी से कुछ दूर रहा हूँ। लेखनकार्य में

तो चारपाई पर पड़े-पड़े भी यश लाभ की जुगति लग जाती है, नेतागिरी में खैर पैदल तो नहीं मोटर-ताँगों में घूमना पड़ता है। (रक्तचाप के कारण तथा धनाभाव के कारण वायुयान में बैठकर देवताओं की स्पर्द्धा नहीं करना चाहता, मनुष्य बना रहना मेरे लिए काफ़ी है), गला फाड़कर कभी-कभी बिना लाउडस्पीकर के भी व्याख्यान देना होता है, जाड़ों में भी शुद्ध खद्दर के बगुले के पख-से सफ़ेद (बगुल की सफ़ेदी के गुण की ही उपमा दी गई है) कुरते में ही संतोष करना पड़ता है और घर पर मक्खन टोस्ट खाते हुए भी बाहर पार्टियों में चना-गुड़ खाने का त्याग दिखाना होता है। खैर, अब जेल जाने की बात नहीं रही।

उदारता तो कभी-कभी छाती पर पत्थर रख कर भी कर देता हूँ, किन्तु बिना अहसान जताये नहीं रहता। जहाँ तक लक्षणा-व्यंजना के साहित्यिक साधनों की पहुँच है उन सबका प्रयोग कर लेता हूँ फिर भी यदि कोई संकेत-ग्राही चतुर पुरुष न मिला तो यथासंभव अभिधा से भी काम ले लेने में निर्लज्जता कर बैठता हूँ। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि मैं उपकृत का सम्मान बहुत करता हूँ। उस पर अहसान जताते हुए उसमें हीनता का भाव उत्पन्न नहीं होने देता हूँ। मुझे तुलसीदास जी की बात याद आ जाती है 'दानमान-संतोष'। उपकृत मुझे बड़ा बनने का अवसर देता है। उसका मैं सदा आभार मानता हूँ। अहसान जताने के लिए जब हार्दिक ग्लानि होती है तब माफ़ी भी माँग लेता हूँ, एक जगह यह भी सुनने को मिला 'जूता मारकर दुशाले से पोंछने से क्या लाभ ?'

जहाँ यश-प्राप्ति और धन-लाभ के साथ आलस्य का संघर्ष न हो वहाँ आलस्य शीर्षस्थान पाता है। साधारणतया मैं बाबा मलूकदास के 'अजगर करै न चाकरी पछी करै न काम, दास मलूका कह गये सबके दाताराम' वाले अमर काव्य को अपना आदर्श वाक्य बनाना चाहता हूँ और इस प्रवृत्ति के कारण संतोषी होने का श्रेय भी पा जाता हूँ किन्तु इस युग में बिना हाथ-पैर पीटे काम नहीं चलता, 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'

मेरी स्वार्थ-परायणता मेरे आलस्य और आरामतलबी पर सान चढ़ा देती है, फिर शारीरिक शैथिल्य ने तो आलस्य का प्रमाण-पत्र दे दिया है। मैं अपने पास-पड़ोसी या सम्बन्धी के प्र-प्र-पितामह को भी मारना नहीं चाहता। उसमें मानवता की मात्रा तो वाजिबी ही है, किन्तु उस शुभकामना का असली उद्देश्य यह होता है कि श्मशान तक न जाना पड़े। जहाँ स्वार्थ-साधन की बात न हो वहाँ बड़ी से बड़ी भव्य बात भी फीकी पड़ जाती है। सरल साहित्य सेवियों की मण्डली में जहाँ मुझे ज्ञान प्राप्ति की भी सम्भावना नहीं होती, मैं भी उन लोगों की बातों में रस लेने का अभिनय-सा कर देता हूँ। कभी-कभी

मेरी उदासीनता प्रकट हो जाती है। मैं पक्का उपयोगितावादी हूँ किन्तु मेरा स्वार्थ सीमा से बाहर नही जाने देता। अपने स्वार्थ का यदि दूसरे के स्वार्थ से सघर्ष हो तो मै दूसरे के स्वार्थ को मुख्यता देता हूँ। मैं हमेशा यह चाहता रहता हूँ कि भगवान कही से छप्पड फाडकर दे दे, किन्तु दुर्भाग्यवश मेरे मकान मे कोई छप्पड़ नही है और मैं धन के लिए भी अपने मकान की छत तोडना नही चाहता। इसीलिए शायद गरीब हूँ। चुपडी और दो-दो की बात नही हो सकती।

मान-मद तो मुझ मे नही है फिर भी बड़े आदमियो द्वारा अपमान को सहन नही कर सकता हूं। गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं महर्षि भृगु की लात की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूं क्योकि वह बिना किसी कसक के या बिना किसी हीनताग्रथि के सहज मे दूसरे का अपमान नही करता। क्रोध भी मै अपने से बडो पर ही करता हूँ। छोटो पर दिखावटी क्रोध भी नही करता। द्वेष तो मै किसी से नही करता—बनिया जिसका यार, उसको दुश्मन क्या दरकार ? इसका अर्थ मै यह लगाया करता हू कि बनिये का इतना सद्व्यवहार होता है कि उसके और उसके मित्रो तक के कोई दुश्मन नही होते। (जब यह कहावत बनी तब ब्लैक मार्केट नही थे)। हाँ, ईर्ष्या अवश्य हाती है। जब दूसरे लागो को, जो मेरे साथी थे, मोटरो पर चलता देखता हूँ और मै स्वय धूप निवारण करने के लिए सर पर धोट डाल कर सडक पर बिना द्रुमछाया के भी विश्रम्य-विश्रम्य चलता हू, तब ईर्ष्या अवश्य होती है और सोचता हूँ कि मुझे भी कुछ अधिक साहसी, उद्यागी और थोडा बहुत बेईमान भी बनना चाहिये था। बनिये लोग वैसे तो फौज मे जाते हैं, कप्तान और कर्नल बनते है और उन्होने इस कलक को धो डाला है कि 'कहा जानै वणिक-पुत्र बढ लैबे की बात।' अब उन पर यह कलक नही किया जाता कि 'सस्कारात् प्रबला जाति' अथवा 'यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नोसि गजस्तत्र न हन्यते' फिर भी 'आहार-निद्रा-भयमैथुन च' मे और गुणो के साथ भय मुझमे प्रचुर मात्रा मे है। इसे मै पहले गिनाता हूँ। गीता पर व्याख्यान देते हुए मै चाहे बडी डीग के साथ कह दूं कि अभय का दैवी सम्पत्ति मे पहला स्थान दिया गया है किन्तु यह 'पर उपदेश-कुशल' की बात है। निर्भयता की हिन्दू-मुसलिम दगो मे काफ़ी परीक्षा हो गयी है। उन दिनो घर के दुर्ग से बाहर नही निकला। सरकार से मोर्चा लेने की बात मेने कभी सोची भी नही, क्योकि जब जेल जाने के लिए प्रभु ईसा-मसीह की भाँति ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़े कि 'या खुदा आफत का प्याला मुझ से टाल' तो फिर उस राह जाने से क्या काम ? और जिस राह नही जाता, उसके पेड़ भी नही गिनता। पुलिस को धोखा देने मे मजा अवश्य आता है, बुद्धि के चमत्कार पर गर्व करने

को भी मिलता है, किन्तु वह कम से कम महात्मा गाँधी के अर्थ मे बहादुरी नही कही जाती है। मुझमे न इतना साहस हे ओर न इतना शारीरिक बल कि रात-बिरात खाई-खदको मे घूमता फिरूँ और फिर जेल मे घर का-सा आराम कहाँ ? (बैरागी बाबा तुलसीदास जी को राम-नाम के उपमान के लिए घर से बढकर उपमान नही मिला "सुखद अपनो सो घर है।') मै काग्रेस जनो की बुराई करते हुए भी, गाँधी जी की भाँति चार आने का मेम्बर भी न होता हुआ भी, और लोगो के आग्रह करने पर भी, गाँधी टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी, काग्रेस के आदर्शो का परम भक्त हूँ। इस बात को शायद पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था। कभी-कभी अपने मित्रो से काग्रेस के पक्ष मे लडाई भी लडनी पडती है किन्तु फिर भी निर्भयता का गुण नही अपना सका हूँ। जीवनधारियो की शेष कमजोरियाँ भी मुझमे उचित सीमा के भीतर वर्तमान है। अन्तिम को मेरी अवगुणो की सूची मे अन्तिम ही स्थान मिला है। उसको मै मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूँ क्योकि मनोभाव का उचित स्थान मन मे ही है। 'नेत्र-मुख केन वार्यते' के सिद्धान्त को मे मानता हू। किन्तु गजे के नाखूनो की भाँति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मन्द ही है। नेत्रो के पाप मे भी यथासभव बचा ही रहता हूँ किन्तु मानसिक दृष्टि मद नही हुई है। उस दिन को मै दूर ही रखना चाहता हूँ जब मनमोदको से भी वचित हो जाऊँ।

आहार को पण्डितो ने पहिला स्थान दिया है किन्तु मै उसे भय के पश्चात् दूसरा स्थान देता हूँ। आहार जीवन की आवश्यकता ही नही, वरन् जीवन का आनन्द भी है। डाक्टरो की कृपा से कहूँ, या रोगो के प्रकोप से कहूँ, आहार का आनन्द बहुत सीमित हो गया है। फिर भी नित्य ही पाचन-शक्ति के अनुकूल थोडा-बहुत भाग मिल जाता है। काव्य से अधिक 'सद्य परनिर्वृति.' भोजनो से मिलती है। उपवास मे विश्वास रखते हुए भी मै एकादशी व्रत तब तक नही रखता जब तक छप्पन प्रकार के व्यजन नही तो कम से कम एकादश प्रकार के भोज्य पदार्थो के मिलने की सभावना न हो।

दोपहर का भोजन तो भर पेट कर लेता हूँ, उसमे तो मै अपने नवयुवक बन्धुओ से बाजी ले जाता हू, सायकाल को मै आधे पेट ही सोता हूँ, गरीब भारत की आधे पेट सोने वाली जनता की सहानुभूति मे नही, और न अर्थाभाव मे, किन्तु आटे मे वर्तमान शकर की मात्रा पचानेवाले पैक्रियस (Pancreas) के रस के अभाव के कारण। उस अभाव की पूर्ति मे इस्यूलिन के इजैक्शनो से कर लेता हूँ। अन्धकार की भाँति मेरा शरीर भी सूची-भेद्य है और जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है, मेरे शरीर मे जितनी सुइयाँ लग चुकी है उतने बाण भीष्म पितामह की शर-शैया मे भी न लगे होगे।

मिष्ठान्न का मैं यथासंभव संन्यास करता हूँ किन्तु दूध के साथ शर्करा का वियोग कराना मै पाप समझता हूँ। शरीर और शक्कर के जोड़े मे एक का विच्छेद करने से मुझे क्रौंच-मिथुन की बात याद आ जाती है और भय लगता है। कोई वाल्मीकि जैसे करुणार्द्र हृदय ऋषि मुझे भी शाप न दे दे कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समा'। लेकिन शक्कर इतनी ही डालता हूँ जितना दाल मे नमक डाला जाता है या किसी आजकल के सभ्य समाज मे बिना आत्मसम्मान खोये कोई झूठ बोल सकता है। मिठाई मै मोल लेकर बहुत कम खाता हूँ क्योकि मै आफत मोल नही लेता। अच्छे भोजन का लोभ मै सवरण नही कर सकता। मै किसी के निमन्त्रण का तिरस्कार नही करता किन्तु मर्यादा का ध्यान अवश्य रखता हूँ। फिर भी रोगमुक्त नही हो पाता हूँ क्योकि डाक्टरो की बाँधी हुई सौमित्र-रेखा का मान करने मे मै असमर्थ हूँ। दावतो मे जाकर अपनी अन्तरात्मा को धोखा देने के लिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पडित.' के न्याय से अपने पास बैठने वाले सज्जन को मिठाई का अर्द्धांश समर्पित कर देता हूँ, कितु क्या रक्खूँ या क्या दूँ के निर्णय का भार मै अपने ऊपर ही रखता हूँ। 'परान्न प्राप्य दुर्बुद्धे ! मा शरीरे दया कुरु' के सिद्धात को मै भूल जाने का प्रयत्न करता हूँ और इसी से मै बचा हुआ हूँ।

जब मैं न बाते करता हूँ और न पढता हूँ, तब सोना ही चाहता हूँ। इसलिए मैने अपने ठलुआ-क्लब का समर्पण सुख-दुख की अपनी चिरसगिनी परम प्रेयसी शैया देवी को किया है। रियासत मे रहकर मुझ मे दो ही विला-सिताएँ आयी है, एक दिन मे सोने की और दूसरी धूप मे न चलने की। धूप निवारण के लोभ से ही मै काग्रेस के राज्य मे भी कोट को इसी तरह साथ रखता हूँ जिस तरह बदर अपने मरे हुए बच्चे को। रात को सोने के ही प्रेम के कारण मै सिनेमा, ताश खेलने आदि के दुर्व्यसनो से बचा हुआ हूँ। मै उन लोगो मे से नही हूँ जो रात भर जागकर 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी' की भगवान् कृष्ण की उक्ति को सार्थक करते है।

लोग मुझे धार्मिक समझने की मूर्खता करते और बडी श्रद्धा से धर्म चर्चा करते है। मै यथासभव उनका स्वप्न भग नही करता। ऐसे श्रद्धालु लोगो को सतुष्ट करना कठिन नही होता है। धार्मिकता की विडबना किये बिना मै उनकी बातो का यथामति उत्तर दे देता हूँ। उत्तर देकर यदि दाताओ की सूची मे मेरा नाम आ जाय तो 'वचने का दरिद्रता।'

मै धार्मिक या अत्याचारी नही हूँ। मैं गोस्वामी तुलसीदास के इन वचनो मे कि 'परहित सरिस धर्म नहि भाई, पर पीड़न सम नहि अधमाई' सवा सोलह आना विश्वास करता हूँ पर इतना धर्म-भीरु भी नही जो पाप के नाम से डरूँ, झूठ भी, जैसे ईद-बकरीद जुलाहा पान खा लेता है, मै बोल ही लेता हूँ, अर्थलाभ के लिए तो नही किन्तु मान-मर्यादा की रक्षा के लिए, कभी बेबस होकर बिना

टिकट के रेल मे सफर भी कर लेता हूँ किन्तु उसका पश्चात्ताप नही होता। पकडा न जाऊँ त। उस बेबसी के किये हुए पाप को सहज मे भूल जाता हूँ किन्तु ताँगेवाले को कम पैसे देने मे अवश्य दुख होता है।

चोरी मै बडी चीज की तो नही करता किन्तु छोटी चीज की कभी, कभी कर लेता हूँ। वह पाप भी चीज की पसद पर न्यौछावर कर देता हूँ। कभी-कभी अच्छी पुस्तके, जिनकी सख्या एक हाथ की अगुलियो पर की जा सकती है, मैने चुरा ली है, वह भी उनके यहाँ से जिनके यहाँ मैने आतिथ्य स्वीकार किया है। उनमे एक कीथ महोदय का सस्कृत ड्रामा है। वह भी मुझ जैसे सहृदय से माँग कर लाटाना भूल गया है। अपरिग्रह अर्थात् त्याग मै जरूरत से ज्यादह नही करता हूँ। मै दुनियाँ मे और लागो की भाँति आराम चाहता हूँ कुछ-कुछ वैभव भी, किन्तु दूसरो को सताकर नही। जिस तरह लोग कला के लिए अनुशीलन नही करते है वैसे मै धन के लिए धन का अनुशीलन नही करता, फिर भी मन के लोभ-लालच से मै परे नही हूँ। धन मेरे लिए साधन है, साध्य नही है।

इन सब अवगुणा के होते हुए भी मै परेशान नही हूँ। जब तक कोई आफत सर पर न आ जाय मै भगवान से भी दया की भिक्षा नही माँगता, किसी दूसरे से भी मागने मे मुझे लज्जा नही आती, किन्तु मै मनुष्य स एक बार नही करने पर या मौन हो जाने पर दुबारा मुँह नही खोलता। मै पूजा-पाठ सोदयापासना के रूप मे मन को खुश कर लेने के लिए भोजनो की प्रतीक्षा मे कर लेता हूँ। लोग कहते है। 'भूखे भजन न होइ गुपाला' किन्तु मैं भूख मे ही भजन करता हूँ। मुझे धूप की गन्ध बडी अच्छी लगती है। बिना मन्त्रो के ही कभी-कभी हवन कर लेता हूँ। भक्ति भावना से नही, वरन् नादसौन्दर्य के कारण कभी देवताओ के स्तोत्र पढ लेता हूँ और कभी-कभी जल्दी मे गीता के 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' के साथ भर्तृहरि के शृगार शतक के भी श्लोक 'विश्रम्य विश्रम्य द्रुमाणा छायासु तन्वी विचार काचित्' या कालिदास के मेघदूत या शकुन्तला के 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना' वाला श्लोक पढ जाता हूँ। इसके लिए मै स्वर्ग से विमान आने की प्रतीक्षा नही करता। मेरा धर्म स्वात: सुखाय है।

और कुछ न लिख सकने के कारण मानसिक दरिद्रता की आत्मग्लानि निवारण करने के लिए मैने ये आत्मस्वीकृतियाँ लिख दी है नही तो अपना भरम न खोलता। बौद्धो मे तथा रोमन कैथोलिको मे पापो की आत्मस्वीकृति विधिवत् की जाती है और उसकी गणना पुण्य कामो मे होती है। मुझे मालूम नही कि इस पुण्य का क्या फल मिलेगा। इतना ही बहुत है कि इस आत्म-स्वीकृति मे जितना आत्मविज्ञापन है, उसे जनता उदारतापूर्वक क्षमा कर दे।

10

अमीर इरादे : ग़रीब इरादे

—माखनलाल चतुर्वेदी

इन पंक्तियों के लिखते समय कुछ नहीं के चित्र बनाने और उन्हें कुछ बताने जैसा मन होता है। घटनाएँ कभी चाह, कभी कष्ट, कभी उत्तरदायित्व और कभी सहज आकर्षण बनकर इस तरह डावाँडोल करती आयी है कि डावाँडोल होना मानो मीठा-सा स्वभाव-धर्म बन गया। इतिहास, तर्क, राजनीति, समाज, घटनाचक्र, निर्णय, असन्तोष, आग्रह, लाचारी आदि जीवन की हर कमी जब-जब दुःख उठी है, कह उठी है, "मैं सत्य हूँ, तू असत्य है" उस समय दीख पड़नेवाले और दुःख उठनेवाले प्रकृति, परिस्थिति और तिथि के लिए मानो ठहरना ही नहीं जानते। मानो जी की लाचारी है और सबको सिरकी पर लेकर चलना उस लाचारी का अभिशाप है।

कभी-कभी कुछ ऐसा-सा दीख पड़ता है जो बहुत सुन्दर, मोहक, शक्ति-वर्धक होता है, किन्तु यह जानना अत्यन्त कठिन होता है कि वह क्या होता है। कितनी ही पुरानी, कितनी ही दूर की, कहीं बीती हुई घटना पास आकर इस तरह ठोकर खाती है मानो घटना और जीवन का सम्बन्ध किसी पुण्य-पुरुष ने बहुत निकट का गढ़ दिया हो। लगता है, ऊँचे पर चढ़कर बोलने का किसी गायक को अधिकार नहीं है, और नीचे पर उतरने की विश्वरुचि इजाज़त नहीं देती। तब अधर पर टँगे ऐसे बोलों के मोल कूतने की नादानी कौन करे? मानव बहुत प्राचीन काल से भव्य छन्दों और बन्दों के आवरण और आभूषण पहिनकर आता रहा है। किन्तु लगता है अठारहवीं शताब्दी के बाद कला और विलास ने उस सत्य का मुँह रोटियों की ज़ंजीरों से जकड़ दिया है। माना कि सूखी चीज कला के कलेवर में हरी-हरी हो उठती है, किन्तु उसके पश्चात्? यह एक प्रश्न है और शायद प्रश्न ही रहेगा।

कभी-कभी कुछ इतिहास-सा, कुछ भूगोल-सा, कुछ मनोविश्लेषण-सा जो कुछ दीख पड़ता है वह केवल इन वस्तुओं से छू जाना मात्र है। न वह इन

वस्तुओं का जेवर है, न कलेवर है। यही एक पथ है, जहाँ पढ़ना कभी भी लिखना नहीं होता। जहाँ बुद्धि की धनिकता की दुकानदारी नहीं सजायी जा सकती। जहाँ इरादे न ऐसे अमीर हो सकते हैं कि जमीन पर पैर ही न रखें और न ऐसे ग़रीब ही कि वे मसोस को बाज़ार में लेकर खड़ी हो जायँ। कुछ ऐसा लगता है कि दिये हुए शीर्षक और कही हुई बात के पीछे कोई खड़ा है जो अपनी बोली, चुहुल, आँसुओं और उमाँसो के लिए शीर्षक और कथानक माँग रहा है। जमाना मानो हँस-सा रहा है। व्यग्य मे ? उपहास में ? उल्लास में ? मसोस में ? यह देखना बहुत जरूरी है कि जहाँ तुम खडे हो, वहाँ पैरों के नीचे जमीन है ? हवा चल रही है, वृक्ष उठ रहा है और फल गिर रहे है ? राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी के कथानुमार सूरज जुगनू-सा तो नजर नही आता ? कथन छोटा, कथन मँझला, कथन बड़ा कैसे जूते-के-से नाप है ? और ये सबके सब है बुद्धि पर ठीक बैठने के लिए। उस दिन किसी माँ का बेटा नही रहा और मराठी के सिद्ध कवि गोविन्दाग्रज ने गाया --

'राजहंस माझा निजला'

मेरा राजहंस सो गया। दुर्दैव के नगाधिराज के शिखर पर दुखी विधवा माँ यही पुकार उठी। किन्तु माँ की पछाड़ों पर जरा भी जागृति न होने वाला जगत् कवि की वाणी को सहस्र-सहस्र बार दुहराने और दुलराने लगा। यहाँ लगता है मानो जीवन की अपेक्षा कला के साथ विधाता का कितना मधुर पक्षपात है ? किन्तु जब डग-डग, पग-पग विनोबा के रूप मे कविता डोलती हुई बोलती है, अथवा कविता बोलती हुई डोलती है, तब जब वाणी को वहने की कसमसाहट नही होती, तभी ऐसा लगता है कि मधुराई के जुए के दाव पर कोई कला का अन्तःकरण बेच रहा है। पानी नीचे को और पानी पाकर उगा हुआ वृक्ष ऊपर को, कैसा षड्यन्त्र है ? एक ही वस्तु के कैसे दो विचित्र स्वभाव है ? आसमान पर रहेंगे, तो नीच उतरने को ललचेंगे और लाट साहब नीचे आ जायेंगे, तो हरे-हरे होकर आसमान की तरफ़ दौड़ेंगे, उल्लास मे एक चाँटा मारने की तबीयत होती है, इस शरारत को देखकर किन्तु वह शरारती के गाल पर पड़ने के बजाय अपने ही गाल पर पड़ता है और प्राण चीख उठता है, घुटनों के बल रेंगता-सा वह भावों का अत्याचारी, जिसकी मसोस की लाचारी को कविता कहते है। इन्द्र-धनुष, रिमझिम, भक्ति, मानव, आप कौन हैं जो कविता को यहीं तक ठहरा लेंगे ? कविता विज्ञापन बनेगी, नहीं, किन्तु यदि बाजार में कोई बूढ़ी कुँजड़िन अपनी साग-तरकारी न बिकने पर शाम को घर लौटने के थोड़ी देर पहले अपने चेहरे पर पौने नौ बजाकर चिन्ता में डूब गई है कि अब बच्चों का पालन-पोषण कैसे होगा, तो क्या कवि यह कहे जायेगा।

कि कविता में तुम्हारा प्रवेश-निषेध है? और जन-जीवन के काम में पहुँचने का पागलपन लिये वह ऐमी कोई क़ैद मानेगा भी कैसे ? हाँ, एक बात है। शताब्दियाँ हुई, पीढ़ियाँ कविता के पीछे-पीछे चली आ रही हैं। अब कवि कहने लगा है कि मेरे पीछे-पीछे न आओ। क्यों ? क्या वह मानव अपने उत्तरदायित्वों के बोझ से ऊब उठा है ? क्या कुछ शताब्दि पहले ही इतिहास लिखनेवाले थे, जिन्हे गान लिखनेवाले मिल गये।

और आज क्या समर्पण और विश्व-सचालन के ऐसे मे शक्ति का दिवाला पिट गया तो इतिहास नही बन रहा है और गान नहीं लिखे जा सकते ? यही आकर लगता है जैसे हम शरीर ले आये, और आँखे अपनी प्रतिभाहीनता के मनोभावो मे भूल आये। अब हमसे बिना दीखे जो लिखाया जा सके, सो लिखा ले। कल तक हम भारत के एक मौसम की एक चीज लिखते थे। आज समस्त दुनिया और समस्त विश्व की मानवता की प्रसन्नता और कोमलता न्योता है कि आओ, जरा हमारे साथ बैठो। क्या यही क्षण है कि आप वह देंगे कि उपमा, अलकार, तर्क, उसकी कहावतें सब-कुछ हमारे पास तो बीस, उतर हुए है—इसलिए मध्यकाल की कुल-बधू की तरह हम तो घूँघट मे ही रहेंगे। उससे हमारी बदसूरती तो न दीखेगी। साथ ही भावना के हम गहरे सौदागर है। कल्पना के भी बड़े व्यापारी। इसलिए कि हमे अनुभव के कष्टो से मिचली आती है और अध्ययन मानो हमारे बूते का रोग नही है। तब क्या सम्पूर्ण अज्ञान को मधुर रूप दे-देकर ही जीवन का बोझ ढो लिया जायगा ? जहाँ धर्म तर्क का और प्रतिभा अध्ययन का सामना न कर सके, वहाँ सूझो का दुर्भिक्ष, सकल्पो का मरण और पौरुष को भय के सिवा और हो ही क्या सकता है ? सकेत से अगुली तक एक रेखा खींचनी, तो होगी, उस पर क्षण सोचता और क्षण घबड़ाता युग बैठाना तो होगा ही। वाल्मीकि और शेक्सपियर ही क्या, रवीन्द्रनाथ और कविता-कामिनी-कान्त नाथूराम शकर शर्माजी अभी या कभी लौटने से तो रहे। अब तो तुम्हारे जलते हुए दिये से नयी पीढ़ी के नन्हें जलते हुए दीपकों को जलाना होगा और तुम आरती उतारो, वे प्रलय मचावेंगे और पीढ़ियाँ है कि अपने अध्ययन मे दोनों बीच सम्बन्ध ढूंढ़ती चली जायँगी।

मुझे तो लगता है कि कबीर, तुलसी, सूर और मीरा के बाद हमे कुछ सूझ नही पड़ रहा। जीवन और कथन को हम कितनी दूरी पर रखने लगे हैं ? निश्चय तो सूझ की ससुराल है। उसे तो अपने घर जाना ही होगा। अतः आवेग, अध्ययन और अर्थ—तीनो बहुत दूरी पर नही रखे जा सकते। ऐसा न हो कि हम लिखें और वस्तु मुहाफ़िजख़ानों के बस्तों में बाँधकर रख दी जाय। हम कभी अपने गाँव को भी तो देख लिया करें। हमारे गाँव-गँवई के लोग

हमें जानते नहीं हैं और दावा है कि राष्ट्र जानता है। यह दूरी नहीं है। यह जीवन के प्रति हमारे ईमान का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति हमारा उत्तर-दायित्व है। फिर चाहें हम पिछली पन्द्रहवीं शती की-सी कविता लिखें या इक्कीसवीं शती की-सी डींग हाँकें। पृथ्वी के जन्तु, पृथ्वी पर बैठकर विस्तृत पृथ्वी के लिए लिखना है, रचना के एक उदाहरण में से अनेक पीढ़ियों में झाँक लेना है। मधुराई की मसोस पर अपने से पूछ बैठना है कि जिन पर ऐसी बीती हो, वे क्या करें ?

11

साधना

— रायकृष्णदास

अनादि संगीत

कौन कहता है कि संगीत अस्थायी कला है ? देखो तो अनन्त में तुम्हारा प्रत्येक स्वर निरन्तर लहरा रहा है। पत्ता-पत्ता उसे ताल दे रहा है।

तुम्हारे विश्व के किसी भी अंश में यदि किसी समय ताल, स्वर और नृत्य, देखने में बन्द हो जाता है तो वह अंश मृत समझा जाता है। भला तुम्हारे इस सरल संगीत बिना यह विराट् साम्राज्य चल सकता है ?

तुम मुझसे कहते हो कि मैं तुम्हारे गान पर विह्वल और विमुग्ध न होऊँ। यह कैसे हो सकता है ?

इस एकान्त सघन कुंज में तुम गा रहे हो। चारों ओर सरोवर में कमल फूल रहे हैं। गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच-बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ है मानो नवेली प्रकृति के सोंधे ओठों में दशनपंक्ति दमक रही है। भ्रमर मँड़रा रहे हैं। परन्तु सब स्तब्ध हैं। तुम्हारे गान के जादू ने उन्हें मोहित कर रखा है।

पर मैं ही शान्त नहीं हूँ ? शान्त कैसे रहूँ। न जाने कैसे तुम मेरी हृदय-गाथा जान गये हो और उसी को गा रहे हो। मेरा मन तो मरोर-मरोर उठता है। फिर मैं विह्वल और विमुग्ध कैसे न होऊँ ?

आज मेरे अहोभाग्य हैं। तुम्हारे गान की बदौलत मेरी हृदय-गाथा अनन्त निरन्तरता और नित्यता पा रही है।

प्राणेश, तुम मेरे हृदय की समस्त गाथा इसी प्रकार गा डालो। तुम तो मेरे पास हो।

मैं कुटी बन्द करके आसन पर सगर्व बैठा था। उस कुटी को मैं विश्व समझता था और अपने को उसका महाराज ! अपने मद में मैं चूर था।

न जाने तुम कैसे भीतर आ गये। मन्त्रमुग्ध की भाँति आसन का एक कोना मैंने तुम्हारे लिए छोड़ दिया। तुम बैठ गये। मैं धीरे-धीरे खसकने लगा।

उस पर तुम्हारा अधिकार बढने लगा। मै भूमि पर आ गया। तुम आसन पर पूर्णतः आसीन हो गये।

मै निर्निमिष नयनों से, अवाक् होकर, तुम्हारी सुन्दरता निरखने लगा। मुझे उसमे प्रतिक्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचण्ड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है। घनघोर घटा घिरकर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगते है। प्रलयकाल उपस्थित होता है। पर मैं अशान्त, विचलित या भीत नही होता हूं, क्योंकि तुम मेरे पास हो।

जाग्रति

हे नाथ, मुझे उस लोक मे जाग्रत करो, जहा सारे ससार के दुःख को अपने ऊपर ले लेने के सुख मे मस्त हुआ विचरूं। निखिल विश्व का ताप जहाँ मेरे रक्त की ऊष्मा बनाये रखे और अनन्त विश्व-वेदना मेरे सगीत की सामग्री बने।

जहा एकमात्र तुम्ही मेरे सगी हो, और सब प्राणियो की कामना मुझमे एकत्र होकर तुमसे प्रणय करने की शक्ति दे।

जहा भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के बदले असीम जीवन पाकर मै तुम्हारे साथ नित्य नयी क्रीडा किया करूँ।

समय की सहायता

जिस समय तुम देखते हो कि सूर्य की ज्वाला बरसने वाली रश्मियो मे ससार मरा हुआ चाहता है उस समय तुम अपनी करुणा से द्रवित होकर मेघ रूप मे बरस कर सारी पृथ्वी को जीवन प्रदान करते हो। उसी प्रकार जब तुम देखते हो कि सताप से मेरा हृदय भस्म हुआ चाहता है, उस समय मेरी आखो से सावन-भादों की झडी लगा देते हो और मेरा हृदय शीतल हो जाता है।

जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्योग से हारकर विचलित हो रहा है, उस समय तुम उसके गण्डस्थलो से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्षुद्र सागर मे पडे पोत-सी मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मै शान्त हो जाता हूँ।

चुम्बन

दिन भर मै उनके लिए अपने को सजाने और गर्वपूर्वक दर्पण में देखने मे लगा रहा।

सध्या हुई और सूर्य के वियोग से प्रकृति निस्तब्ध हो गई सारे दृश्य बदल गये। मै भी थककर सो गया।

वे कृपापूर्वक आये पर ममता के कारण मुझे जगाया नही केवल मेरा चुम्बन किया और चल दिये।

उस कोमल चुम्बन से मेरी कठोर निद्रा भग हुई। मै आँखे मलकर चकित-सा देखने लगा। उनके चरणो की चाप सुनाई पडती थी। मैने उनके पीछे दौडना चाहा। पर चुम्बन ही के आनन्द मे मै इतना विह्वल और कृतकृत्य हो रहा था कि मेरे पैर न उठे।

त्वरा

प्राणेश के लिए प्रस्तुत होकर मै आँगन मे बैठी हूँ। मेरे हाथो मे सजी हुई आरती का थाल है। पर अभी तक वे आये नही।

जिसे समाचार देने को भेजा था वह भी नही लौटा। समय चला आ रहा है। आरती के दीपक मन्द पडे जा रहे है। क्या जाने कब वे बुझ जायें।

माला के फूल एक-एक करके खिल रहे है और उनकी सुगन्ध को पवन चुराए लिये जा रहा है। नूपुरो के घुँघरू बज-बजकर एक-एक करके भटे जा रहे है। कुछ ही समय मे वे नीरव हो जायेगे।

चित्त की मजुल भावनाएँ उद्वेग बन-बन कर विनष्ट होती जा रही है पर अब भी समय है। मै ही उनके पास क्यो न चलूँ !

12

साहित्य-विटप

-श्रीनारायण चतुर्वेदी

वैष्णव होने के कारण मुझमें साहित्य के मन्दिर में स्थित शालिग्राम की सभी छोटी-बड़ी बटियों में समान भक्ति है। उनके सम्बन्ध में भेद-बुद्धि रखना धर्म का अज्ञान होगा। भक्तों में भेद-बुद्धि पाप है, किन्तु देवताओं में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना भी स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच संबंध स्थापित करने वाली और उनके प्रति हमारे घोर मानवी हृदय में सहानुभूति और संवेदना उत्पन्न करने वाली उनकी यही दुर्बलता है। हमारे साहित्यिक देवता भी इस देव-सुलभ गुण से वंचित नहीं है।

मैंने देखा है कि साहित्याकाश के ये सूर्य और चन्द्रमा, ये अरुन्धती, सप्तर्षि और ध्रुव, ये बुध, मंगल, शुक्र, बृहस्पति, और शनि उन लघु, लघुतर और लघुतम टिमटिमाते हुए तारों को, उन असंख्य नक्षत्रों को, जिनके बिना रजनी निष्प्रभ हो जायेगी और जिनके बिना चन्द्रमा विधुर हो जायेंगे, हीन दृष्टि से देखते है। वे उन्हें निम्नकोटि का जीव समझते हैं, जो स्वर्णिम साहित्य स्वर्ग के स्वर्णिम द्वार के पास फटकने के योग्य नहीं। इनमें कोई-कोई तो अपनी सम्मति कविसुलभ लक्षणा, ध्वनि, व्यंजना, उपमा, कूट या कटाक्ष द्वारा प्रगट करते है और कोई विशुद्ध अभिधा में उसे व्यक्त कर देते है।

उनसे मेरा निवेदन है : हम इस साहित्य रूपी विटप के अज्ञात, असम्मानित अनभिनंदित पल्लव और कमनीय, प्रस्फुटित, मदिरगंध, नयनाभिराम कुसुम है। किन्तु हम वह है, जिनके बिना यह साहित्य विटप ठूँठ रह जायेगा। पत-झर में पत्रहीन ठूँठ केवल विकृत मस्तिष्क को ही आकर्षित करता है। पल्लवों के बिना वृक्ष मानो वसनहीन हो जाने के कारण लज्जा से स्तब्ध होकर सुषुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। पल्लवहीन प्रकृति 'बिधु वदनी सब भाँति सँवारी, सोह न यथा बसन बिनु नारी' की तरह मालूम पड़ती है।

जब नवजात शिशु के समान हमारा रक्तिम कलेवर संसार के सामने

आता है, जब रक्ताभ और ताम्रवर्ण किसलयों से ठूँठ ढँक जाता है, तब प्रकृति मानो नया परिधान धारण कर सुवसना गृहकामिनी की भाँति शोभित होकर निखर उठती है। साहित्य विटप के हम नगण्य और असंख्य पल्लव हैं। पल्लव (श्रीनारायण चतुर्वेदी सरीखे लेखक, श्रीवर तथा श्री विनोद शर्मा सरीखे कवि) इस साहित्य-विटप को समाज रूपी वातावरण और वायुमंडल से जीवन-दायिनी वायु खींचकर उसे साँस लेने में सहायता देते हैं, जिससे वह समाज की प्राणदायिनी शक्ति पाकर जीवित रह सके और आप ऐसे रमणीय कुसुमों को उत्पन्न कर सके। हम, पल्लव, उसकी शोभा ही नहीं बढ़ाते, उसे प्राण ही नहीं देते, हम उसे संसार में अभिनन्दनीय और वन्दनीय भी बनाते हैं। क्या पल्लवहीन ठूँठ 'दीरघ दाघ निदाघ' में किसी थके बटोही को शीतलता और विश्राम दे सका है? क्या हमारे बिना विटप में सुखमय छाया देने की शक्ति आ सकती है? क्या पुष्पमंडित, किन्तु पल्लवहीन करील ने किसी त्रस्त बटोही को सिवाय उसके अंग क्षत-विक्षत करने और उसके वस्त्रों को नोचने के कभी आश्रय भी दिया है? यही नहीं, यदि हम विटप को आच्छादित न करें तो क्या सहस्रों सुंदर-सुंदर शुक, पिक, कपोत, सारिका आकर उसमें अपना नीड़ बना सकेंगे? सम्भव है कि उसमें काक, गृद्ध और चील रहते हों। किन्तु वे भी तो आखिर जीव ही हैं। उनको हम आश्रय से कैसे वंचित करें? हम तो समान रूप से भलों-बुरों को आश्रय देते हैं। पर ठूँठ अपने कोटरों में केवल शृगालों और रूपों को ही आश्रय देता है, और हाँ, रात्रि में ठूँठ पर बैठकर उलूक पक्षी सुकुमार और कोमल-हृदया कामिनियों तथा प्रकृति-भीरु बालकों को अपनी हृदय-विदारक चीत्कार से त्रस्त अवश्य कर सकता है।

हम पल्लव हैं। किन्तु हम न हीन हैं, न दीन और न दयनीय। बिना हमारे वंदनवार असम्भव है, और जब तक हम पंच-पल्लवों के रूप में न जा विराजें, कोई भी मांगलिक कृत्य सम्भव नहीं। हम अवश्य ही वसन्त की श्री हैं, किन्तु हमें वसंत की श्री-वृद्धि करने का अभिमान नहीं है। हम इतने से ही संतुष्ट हैं कि आश्रयहीन दीन जनों की पर्णकुटी छाकर हम उनको प्रकृति के कोप से बचाते हैं। यदि हमने पुण्य अर्जन किया है तो यही कि हम भगवान राम की पर्णकुटी बना सके, और यदि भविष्य में पुण्य प्राप्त होना है तो हम कितने ही वशिष्ठ और भारद्वाज की पर्णशाला बना सकेंगे। सेवा का अवसर तो हमें मिलता ही रहता है। हम चाहे हरे हों चाहें सूख जाँय, दीन व्यक्ति और गृहस्थ तथा धनिक भी हमारे ही दोने और पत्तल बनाकर आगत अतिथियों का सत्कार कर पाते हैं। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर हम अपने को पशुओं तक को समर्पित करके उनके प्राणों की रक्षा करते हैं। हम भाड़ में अपनी आहुति देकर देश के दरिद्रतम लोगों को चने-मुरमुरे सुलभ कर उनकी

क्षुधा शान्त करते है। इतने से ही हमारा जीवन धन्य है। और अपनी इसी नम्रता, विनय और सेवा के फल से तुलसीदल के रूप मे हम 'पवित्राणाम् पवित्रं यो मगलानां च मगलम्' माने जाकर आसन्न-मृत्यु प्राणियो के मुख मे गगाजल के साथ छोडे जाते है और उनकी मुक्ति मे सहायक होते है।

हम पल्लव-उपयोगिता, सेवा और नम्रता की मूर्ति है। कभी-कभी नम्रता का 'मिट' आने पर आप मे से भी कोई-कोई आने को पल्लव अथवा पत्र विनीत घोषित करते है। किन्तु कुसुमो मे नम्रता ठहर ही कैसे सकती है? उन्हे तो पत्तियो के ऊपर ऐंठ कर खडे होने और वहा से—ऊपरी खण्ड से, अपनी रूप-राशि प्रकाशित और विज्ञापित करने मे ही आनन्द आता है। हाँ, कभी-कभी हम पल्लवों का गवाक्ष बनाकर ससार का भाव लेते और भाकी दिखा दिया करते है। कभी-कभी समालोचक रूपी निठुर माली की निगाह और उसके क्रूर कर्मी हाथो से बचने के लिए हमारी आड मे छिप भी जाते है। किन्तु हम आपकी महानता मानते है। पारिजात, कमल, चम्पा, माधवी, मालती, गुलाब सभी नहीं, आप प्रत्येक रूप मे देवताओ तक को प्रिय है। चाहे पत्र ही बिखरे न हों, कुसुम ही आपको देवता के सिर पर चढने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। दूसरो के सिर पर चढना आपको इतना प्रिय है कि आप विवेकशून्य होकर देवता से लेकर चोरों के पार तक पर—कब तक कहे शव पर भी चढने को सदैव तैयार रहते है। आप इसका गर्व न करे। विजयत और नामीदल के रूप मे हम भी भूत-भावन विश्वेश्वर विश्वनाथ की और आनन्दकन्द व्रजचन्द की पूजा मे चढाये जाते है। किन्तु हम [illegible] अधिकार देते है। हमारे बबूल और नीम के पत्त आपके [illegible] आगे [illegible] हास्यास्पद दुस्साहस नही करते।

[illegible] है कि कामिनियो के शृगार के आप अत्यन्तम साधन है। विलासप्रिय लोगो के आप आधार है। आपका कलेवर कमनीय है आपका स्वरूप मनोरम और नयनाभिराम है। आप प्रकृति-वधूटी के शृगार है। आप कामिनियो की वेणी मे मणि का भ्रम उत्पन्न करते है। उनकी कोमल कलाइयो को दबाते और उनके सुर-दुर्लभ गले मे घेरा डालकर उनका आलिंगन करते है। यही देखकर समझदार लोगो ने कहा था कि जहाँ रवि की भी पहुँच नही होती, वहा आप पहुँच जाते है। पुष्प-शैया आप से ही सार्थक होती है। सन्ध्या के समय चौक मे घूमते और यौवन-मद मे मतवाले युवक आपको गले मे डालकर ही जवानी के जीवन को सफल समझते है। और पाश्चात्य सभ्यता से दशित लोग, यद्यपि इन लोगो की तरह आपसे निकट शारीरिक सम्पर्क रखना समयोचित नही समझते, फिर भी अपने गोल कमरों

में और खाने की मेज़ों पर शोभा और अलंकरण के लिए आपको मूल्यवान और सुन्दर पात्रों में दूर रखकर मानों इस बात की घोषणा करते हैं कि सभ्य समाज के जीवन में आपका और क्या उपयोग है। संसार-त्यागी संन्यासी आपका उपयोग करते नहीं देखे गए। हाँ, भक्त लोग देवताओं के शृंगार में आपका उपयोग कर लेते हैं, और फिर आपको भगवान् का निर्माल्य समझ श्रद्धा से सिर पर चढ़ा, यत्नपूर्वक एक ओर रख देते हैं, और समय मिलने पर गंगा जी में प्रवाहित कर देते हैं। जब—

प्रभाते स्नातीनां नृपति-रमणीनां कुचतटी।
गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः॥
मृगास्तावद् वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता।
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दन-वनम्॥

तब आप तो सशरीर गंगाजी में प्रवाहित किये जाते हैं। अवश्य ही आपकी सद्गति होती होगी। किन्तु यह याद रखिए कि सद्गति का यह सौभाग्य आपको तभी प्राप्त होता है जब आप पहले अपने-आपको देवता को समर्पित कर दें, और उनके निर्माल्य हो जायँ। नहीं तो सुबह होते ही रमणियों के विलास-भवन से मेहतर आपको बुहार कर घूरे पर फेंक देती है, जहाँ से म्यूनिसिपैलिटी की गाड़ी में अन्तिम यात्रा कर आप किसी गड्ढे में दफ़ना दिये जाते हैं और वहाँ से सड़ाँध का विस्तार किया करते हैं।

आप अपने रूप से लोगों को लुभाते और अपनी गन्ध से उनमें मादकता लाते हैं। गुलाबी गर्मी की शीतल चाँदनी रात में, जब दक्षिण मलय हल्के झोंकों से चल रहा हो, उस समय आप चाहे बेला या जूही के रूप में हों, और चाहे रजनीगंधा के रूप में, आपकी मधुर गंध लोगों के हृदयों में कौन-सा भाव उदय करती है? 'ललित-लवंग-लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' की पंक्ति आपकी इस मादक कर देने की शक्ति की महिमा ही में तो निखर हुई थी। और उस समय 'जूही की कली' की क्या दशा होती है? विलासिता के राजस भाव उत्पन्न करने में आप इस सृष्टि के सबसे सफल और सबसे बड़े कारण हैं। और आपके वर्ण? उनसे किसी को प्रेयसी के चम्पक रंग का, किसी को नीलोत्पल या रक्ताभ कमल-सी आँखों का—और न मालूम कितने प्रकार से प्रेयसी का स्मरण हो आता है। सारांश यह है कि आप शृंगार-रस के उद्दीपन हैं, उसके आधार हैं। कामदेव ने अपने शरों को आपसे निर्माण कर आपकी शक्ति और सार्थकता को प्रमाणित करके तार्किकों को हतबुद्धि और निरुत्तर कर दिया है।

आप-आप ही हैं, और हम-हम ही। "हमहि तुमहि सरवर कस नाथा,

कहहु कि कहाँ चरन कहाँ माथा ?" नियति ने हमारा कर्तव्य कुछ और निर्धारित किया है, और आपका कुछ और। हज़रत ईसा मसीह ने कहा था, "मनुष्य का पुत्र संसार में दूसरों की सेवा करने के लिए आया है—दूसरों से सेवा कराने के लिए नहीं।" हम सेवा करने के लिए और आप सेवा लेने के लिए हैं। माली आपको सींचते हैं, मालिनें आपको गूँथती हैं, कुल-कामिनियाँ आपको अपने सुकुमार करों से बड़ी कोमलता से स्पर्श करती हैं। आप धूप और तुषार से बचाये जाते हैं। और हम ? जब उनचासों पवन क्रुद्ध होकर भूमण्डल को झकझोरने लगते हैं,—जब प्रलयान्तक मेघ मूसलाधार वारिधारा से वसुन्धरा को डुबा देने को प्रयत्नशील हो जाते हैं, जब इन्द्र उपल बरसाते हैं, जब मेष के सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से पृथ्वी के हृदय का सार तक खींचने का प्रयत्न करते हैं—तब, उस समय भी, हम यों ही, भगवान के सहारे, नृत्य और गान करते हुए, अथवा "जाहि विधि राखे राम, ताही विधि रहिए" सोचकर, चुपचाप, ज्यों-के-त्यों खड़े रहते हैं। अपनी बकरियों के लिए हमें बिल्लेसुर बकरिहा दिन दहाड़े हँसिया लगी लग्गी से झटका देकर निर्दयता-पूर्वक तोड़ लेते हैं, किन्तु आप :

हौले भरे शिथिल कबरी में,
गूँथे हर शृंगार कामिनी।

13

धन्यवाद

— सियारामशरण गुप्त

संपादक महोदय ने मेरा लेख लौटा दिया है। यों ही नहीं लौटा दिया है, 'धन्यवादपूर्वक' लौटाया है। यह 'धन्यवाद' किस बात का ?

लेख उन्हें ऐसा पढ़ना पड़ा, जो उनके काम का न था। इस बीच में संभव है, वे ऐसा कुछ पढ़ते, जो उनके उपयोग में आता। सोचा जा सकता है, सुनहरी जिल्द के बढ़िया लिबास में कोई विदेशी लेखक उस समय उनकी मेज पर होगा। उससे उन्हें कहना पड़ा होगा—आप जरा ठहरें। यह कोई सुखद बात नहीं हुई। और फिर इसके बाद मेरा लेख पढ़कर उन्हें मेरी असफलता से भी कष्ट पहुँच सकता है। मेरा लेख उन्होंने लौटा दिया है, फिर भी यह कैसे कहूँ कि वे निर्दय हैं। प्रत्येक सहृदय को दूसरे के दुःख से दुःख होना चाहिए। इतने पर भी धन्यवाद उन्होंने मुझे दिया है। इस धन्यवाद की गुरुता एक बात से और बढ़ जाती है। लेख लौटाने के लिए डाकखर्च मैंने नहीं भेजा था। किसी अन्य लेखक को भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए। साथ में डाक के टिकट होने से लेख को पढ़े बिना ही संपादक के मन में लेखक के प्रति एक हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है। और दूसरी बात, अपना लेख वापस करवाने में लेखक ही संपादक की सहायता पैसे से करे, यह बुद्धिमानी नहीं है।

यह तो हुआ पर संपादक महोदय का दिया धन्यवाद कहाँ रक्खूँ, यह समझ में नहीं आता। किसी अकिंचन ने एक विशेष अवसर पर अपने किसी धनी बंधु को कोई उपहार भेजा। दूसरे दिन वह देखता है कि उसका उपहार लौट आया है और उसी के साथ दस रुपए का एक नोट भी है। पाने वाले के लिए दस रुपयों का मूल्य थोड़ा नहीं। फिर भी उसकी समझ में नहीं आता कि नोट का वह करे क्या। यही दशा इस धन्यवाद को पाकर मेरी है। न तो इसे अपने पास रख सकता हूँ, और न इस कृपा के लिए अपना प्रति-धन्यवाद

संपादक महोदय के पास भेज सकता हूँ। वहाँ का दरवाजा जैसे मेरे लिए बद है।

सपादक महोदय ने मेरे लेख के विषय मे कुछ नही लिखा है। लिखना चाहते तो लिख क्या नही सकते थे? लिखने की भाषा बहुत बुरी है। सूचित करते कि विषय सार्वजनिक हित का नही। सपादक होने के नाते यह सिखा देने का भी उनका अधिकार कम न था कि कलम इस तरह पकडी जाती है। ऐसी किसी बात मे उत्तर-प्रत्युत्तर की कमी मेरे लिए न रहती। पर उन्होने तो केवल 'धन्यवाद' लिखा है। मेरे लिए यह शब्द अत्यन्त दुरूह है। कही से इसका कोई अर्थ निकाल लो, यह प्रतिवाद नही करेगा। इधर से पकडो या उधर से, ऊपर से छुओ या नीचे से, आपत्ति इसे किसी तरह की न होगी। कुछ समझ मे नही आता कि इस गोल लट्टू का सिरा है कहा पर! मान कही लिया जा सकता है, पर है कही नही।

ऐसे शब्द को हम निरर्थक कह सकते है। उनके लिए मेरा लेख निरर्थक है, मेरे लिए उनका धन्यवाद।

परतु नही। उनके धन्यवाद को निरर्थक नही कह सकता। यह एक ऐसा सिक्का है, जो परस्पर-विरोधी देशो मे एक-सा चल सकता है। 'हाँ' मे इसे जितनी गुंजाइश है, उतनी ही 'नही' मे। 'देने' मे और 'न देने' मे यह एक-सा उदार है।

इसे सँभाल कर रक्खूँगा। आधुनिक सभ्यता की यह एक बहुत बडी देन है। अच्छे मे और बुरे मे, खोटे मे, और खरे में, कही भी यह बेखटके चलाया जा सकता है।

14

रजिया

-रामवृक्ष बेनीपुरी

कानों मे चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों मे चाँदी के कंगन और पैरों मे चाँदी की गोडाई-भर बाह् की बूटेदार कमीज पहने, काली साड़ी के छोर को गले म लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को सम्भालने में परीशान, वह छोटी-मी लडकी जो उस दिन मेरे सामने आकर खडी हो गयी थी—अपने बचपन की उस रजिया की स्मृति ताजा हो उठी, जब, मै भी उस दिन अचानक उसके गांव मे जा पहुँचा !

हाँ, यह मेरे बचपन की बात है। मैं कमाईखाने मे रस्सी तुडाकर भागे हुए बछड़े की तरह उछलता हुआ अभी-अभी स्कूल से आया था और बरामदे की चौकी पर अपना बस्ता-सिलेट पटककर मौसी से छठ में पके ठेकुए लेकर उन्हे कुतर-कुतर कर खाता हुआ ढेंकी पर भूला भूलने का मजा पूरा करना चाह रहा था कि उधर से आवाज आयी—देखना, बबुआ का खाना मत छू देना—और उसी आवाज के साथ मैने देखा, यह अजीब रूप-रग की लड़की मुझसे दो-तीन गज आगे खड़ी हो गयी।

मेरे लिए यह रूप-रंग सचमुच अजीब था। ठेठ हिन्दुओं की बस्ती है मेरी और मुझे मेले-पेठिए मे भी अधिक नही जाने दिया जाता। क्योकि सुना है बचपन में मैं एक मेले मे खो गया था, मुझे कोई औघड़ लिए जा रहा था कि गाँव की एक लड़की की नजर पडी और मेरा उद्धार हुआ। मैं माँ-बाप का एकलौता—माँ चल बसी थीं, इसलिए उनकी एक मात्र धरोहर को मौसी आंखों में जुगो कर रखनी। मेरे गाँव मे भी लड़कियों की कमी नहीं; किन्तु न उनकी यह वेष-भूषा, न यह रंग-रूप ? मेरे गाँव की लड़कियाँ कानों में बालियाँ कहाँ डालती और भर बाँह की कमीज़ भी उन्हें कभी नहीं पहने देखा। और गोरे चेहरे तो मिले है किन्तु इसकी आंखों में एक अजीब क़िस्म का

नीलापन दीखता है, वह कहाँ ? और समूचे चेहरे की काट भी कुछ निराली जरूर— तभी तो मैं उसे एकटक घूरने लगा।

यह बोली थी रजिया की माँ, जिसे प्राय ही अपने गाँव मे चूडियों की खँचिया लेकर आते देखा आया था। वह मेरे आँगन मे चूडियों का बाजार पसारकर बैठी थी और कितनी बहू-बेटियाँ उसे घेरे हुए थी। मुँह से भाव-ताव करती और हाथ से खरीदारियो के हाथ मे चूडिया चढाती वह सौदे पटाये जा रही थी। अब तक उसे अकेले ही आते-जाते देखा था। हाँ, कभी-कभी उसके पीछे कोई मर्द होता, जो चूडियो की खाची ढोता। यह बच्ची आज पहली बार आयी थी और न जाने किस बालसुलभ उत्सुकता ने उसे मेरी ओर खींच लिया था। शायद वह यह भी नही जानती थी कि किसी के हाथ का खाना किसी के निकट पहुँचने से ही छू जाता है। मा जब अचानक चीख उठी, वह ठिठकी, वही सहमी—उसके पैर तो वहीं बध गये, किन्तु इस ठिठक ने उसे मेरे बहुत निकट ला दिया, इसमे सदेह नही।

मेरी मौसी झट उठी, घर मे गयी और दो ठेकुए और एक कसार लेकर उसके हाथो मे रख दिये। वह लेती नही थी, किंतु अपनी मा के आग्रह पर हाथ मे रख तो लिया, किंतु मुह मे नही लगाया। मैने कहा—खाओ न ? क्या तुम्हारे घर मे ये सब नही बनते ? छठ का व्रत नही होता ? कितने प्रश्न—किंतु सबका जवाब 'न' मे ही और वह भी मुँह से नही, जरा-सा गर्दन हिलाकर। और गर्दन हिलते-हिलाते ही चेहरे पर गिरे बाल की जो लटें हिल-हिल उठती, वह उन्हे परेशानी से सम्हालने लगी।

जब उसकी माँ नयी खरीदारिनो की तलाश मे मेरे आँगन से चली, रजिया भी उसके पीछे हो ली। मैं खाकर, मुँह धोकर, अब उसके निकट था और जब वह चली, जैसे उसकी डोर मे बँधा थोडी दूर तक घिसटता गया। शायद मेरी भावुकता देखकर चुडिहारिनो के मुँह पर खेलनेवाली अजस्र हँसी और चुहल मे ही उसकी माँ बोली—बबुआजी, रजिया से ब्याह कीजियेगा ? फिर बेटी की ओर मुखातिब होती, मुस्कराहट मे कहा, क्यो रे रजिया, यह दूल्हा तुम्हे पसद है। उसका यह कहना है, कि मै मुडकर भागा। ब्याह ? एक मुसलमानिन से ? अब रजिया की माँ ठठा रही थी और रजिया सिमट कर उसके पैरो मे लिपटी थी, कुछ दूर निकल आने पर मैने मुड़ कर देखा।

रजिया, चुडिहारिन, वह इसी गाँव की रहनेवाली थी। बचपन मे इसी गाँव मे रही और जवानी मे भी। क्योकि मुसलमानो मे गाँवों मे ही शादी हो जाती है न ? और, यह अच्छा हुआ—क्योकि बहुत दिनो तक प्रायः ही उससे अपने गाँव मे ही भेंट हो जाया करती थी।

मै पढ़ते-पढ़ते बढ़ता गया। बढ़ने पर पढ़ने के लिए शहरों में जाना पडा। छुट्टियों मे जब-तब आता। इधर रजिया पढ़ तो नही सकी, हाँ बढने मे मुझसे पीछे नही रही। कुछ दिनो तक अपने माँ के पीछे-पीछे घूमती फिरी। अभी उसके सिर पर चूडियो की खाँचियाँ तो नही पडी, किंतु खरीदारिनों के हाथों मे चूड़ियाँ पिन्हाने की कला वह जान गयी थी। उसके हाथ मुलायम थे, बहुत मुलायम। नयी बहुओ की यही राय थी। वे इसी के हाथ से चूडियाँ पहनना पसद करती। उसकी माँ इससे प्रसन्न ही हुई—जब तक रजिया चूड़ियाँ पिन्हाती, वह नयी-नयी खरीदारिने फँसाती।

रजिया बढती गयी। जब-जब भेंट होती, मै पाता उसके शरीर मे नये-नये विकास हो रहे है। शरीर मे और स्वभाव मे भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गयी है—मुझे देखते ही दौडकर निकट आ जाती, प्रश्न पर प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न—देखिये तो ये नयी बालियाँ, आपको पसद है? क्या शहरो मे ऐसी बालियाँ पहनी जाती है? मेरी माँ शहर से चूडियाँ लाती है, मैने कहा है, वह इस बार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते है वहा? क्या भेंट हो सकेगी—वह बके जाती, मै सुनता जाता। शायद जवाब की जरूरत वह भी नही महसूस करती।

फिर कुछ दिनो बाद पाया, वह अब कुछ सकुचा रही है। मेरे निकट आने के पहले वह इधर-उधर देखती और जब कुछ बाते करती, तो ऐसी चौकन्नी-सी कि कोई देख न ले, सुन न ले। एक दिन जब वह इसी तरह बाते कर रही थी कि मेरी भौजी ने कहा—देखियो री रजिया बबुआजी को फुसला नही लीजियो। वह उनकी ओर देखकर हँस तो पड़ी, किंतु मैने पाया, उसके दोनो गाल लाल हो गये है और उन नीली आँखो के कोने मुझे सजल-से लगे। मैने ध्यान दिया, जब हम लोग कही मिलते है, बहुत-सी आखे हम पर भालो की नोक ताने रहती हैं।

रजिया बढती गयी, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही आती है, किंतु पहले माँ की एक छाया मात्र लगती थी, अब उसका स्वतत्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनो के दिलो मे कसमसाहट होती है! जब वह बहनो को चूडियाँ पिन्हाती है, कितने भाई तमाशे देखने को वहाँ एकत्र हो जाते है। क्या? अपनी नवोढ़ा कोमल कलाइयो को, या इन कलाइयो पर कीरत करती हुई, रजिया की पतली उँगलियों को? और, जैसे रजिया को इसमे रस मिलता है। पतियो से चुहल करने से वह बाज नही आती—बाबू, बड़ी महीन चूडियाँ है, जरा देखियेगा, कही चटक न जाये। पतिदेव भागते

हैं, बहुएँ खिलखिलाती है, रजिया ठट्ठा लगाती है। अब वह अपने पेशे मे निपुण होती जाती है।

हाँ, रजिया अपने पेशे मे भी निपुण होती जाती थी। चूड़िहारिन के पेशे के लिए सिर्फ यही नही चाहिए कि उसके पास रग बिरगी चूड़िया हो सस्ती, टिकाऊ, टटके से टटके फैशन की। बल्कि यह पेशा चूड़ियो के साथ चूड़िहारिनो के बनाव-शृगार, रूप-रग नाजो अदा भी खोजता है, जो चूड़ी पहननेवालियो को ही नही, उनको भी मोह सके, जिनके जेब से चूड़ियो के लिए पैसे निकलते हैं, सफल चूड़िहारिन वह! यह रजिया की मा भी किसी जमाने मे क्या कुछ कम रही होगी—खडहर कहता है, इमारत शानदार थी।

ज्यो-ज्यो शहर मे रहना बढता गया, रजिया से भेट भी दुर्लभ होती गयी। एक दिन वह भी आया, जब बहुत दिनो पर उसे अपने गाव मे देखा, पाया उसके पीछे एक नौजवान चूड़ियो की खाची सिर पर लिये है। मुझे देखते ही वह सकुची, सिकुडी और मैने भाप लिया, यह उसका पति है; किंतु तो भी अनजान-सा पूछ ही दिया—"इस मजूरे को कहा से उठा लायी है रे?" इसी से पूछिए, साथ लग गया तो क्या करूँ?' नवजवान मुस्कराया रजिया ठिठकी, बोली—'यही मेरा खाविद है मालिक।'

खाविद! बचपन की उस पहली मुलाकात मे उसकी माँ ने दिल्लगी-दिल्लगी मे कह दिया था, न जाने वह बात कहा खोयी पडी थी। अचानक वह जगी और मेरी पेशानी पर उस दिन शिकन जरूर उठ आयी होगी, मेरा विश्वास है। और, एक दिन वह भी आया कि मै भी खाविद बना। मेरी रानी को सुहाग की चूडियाँ पहनाने उस दिन रजिया आयी और उस दिन मेरे आगन मे कितनी धूम मचायी इस नटखट ने, यह लूंगी, वह लूंगी और मुँहमागी चीजे नही मिली, तो 'वह' लूंगी कि दुलहिन टापती रह जायेगी। हट-हट तू बबुआजी को ले जायगी, तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा—भौजी ने कहा। 'यह भी टापता रहेगा बहुरिया', कहकर रजिया ठट्ठा मारकर हँसी और दौडकर हसन से लिपट गयी। ओ हो मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना। हसन भी हँस पडा। रजिया अपनी प्रेम-कथा सुनाने लगी। किस तरह यह हसन उसके पीछे पडा, किस तरह झझटे आयी, फिर किस तरह शादी हुई और आज भी किस तरह छाया-सा उसके पीछे घूमता है—न जाने कौन-सा डर लगा रहता है इसे। और फिर मेरी रानी की कलाई पकडकर बोली—मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहे दुलहन! सारा आँगन हँसी से भर गया था। और उसी हसी मे रजिया के कानो की बालियो ने अजीब चमक भर दी थी—मुझे ऐसा ही लगा था।

जीवन का रथ खुरदरे पथ पर बढ़ता गया—मेरा भी, रजिया का भी।

इसका पता उस दिन चला, जब बहुत दिनों पर उससे अचानक पटना में भेंट हो गयी। यह अचानक बात तो थी, किंतु क्या इसे भेंट कहा जाये।

मैं आजकल ज़्यादातर घर से दूर-दूर ही रहता। कभी एकाध दिनों के लिए घर गया, शाम को गया, सुबह भागा। तरह-तरह की ज़िम्मेदारियाँ, तरह-तरह के जंजाल। इन दिनो पटना में था, यों कहिए, पटना सीटी में। एक छोटे से अखबार मे था, पीर-बावर्ची-भिश्ती की तरह। यों तो लोग समझते कि मैं सम्पादक ही हूं। उन दिनो इतने अखबार थे, न इतने सम्पादक। इसलिए मेरी बड़ी क़दर है, यह मैं जानता था। जब कभी दफ़्तर से निकलता, देखता, लोग मेरी ओर उँगली उठाकर फुसफुसा रहे है। लोगों का मुझ पर यह ध्यान—मुझे हमेशा अपनी पद प्रतिष्ठा का ख्याल रखना पड़ता।

एक दिन मै चौक के प्रसिद्ध पानवाले की दुकान पर पान खा रहा था। मेरे साथ में मेरे प्रशंसक नवयुवक थे, एक दो बुज़ुर्ग भी आ खड़े हो गये। हम पान खा रहे थे और कुछ चुहलें चल रही थी कि एक बच्चा आया और बोला, बाबू, वह औरत आपको बुला रही है।

औरत बुला रही, चौक पर ! मै चौंक पड़ा। युवकों में थोड़ी हलचल बुजुर्गो के चेहरे पर की रहस्यमयी मुंस्कान मुझसे छिपी नही रही। औरत कौन ? मेरे चेहरे पर गुस्सा था, वह लड़का सिट-पिटाकर भाग गया ?

पान खाकर लोग इधर-उधर चले, अचानक पाता हूँ मेरे पैर उस ओर उठ रहे है, जिस ओर उस बच्चे ने उँगली से इशारा किया था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर पीछे देखा, परिचितो मे से कोई देख तो नही रहा है। किंतु इस चौक की शाम रूमानी फिजा में किसी को किसी ओर देखने की कहाँ फ़ुर्सत। मै आगे बढता गया और वहाँ पहुँचा, जहाँ उससे पूरब वह पीपल का पेड़ है। वहाँ पहुँच ही रहा था कि देखा, पेड़ के नीचे चबूतरे की तरफ़ से एक स्त्री बढी आ रही है। और निकट पहुँच कर वह उठी—सलाम मालिक।

धक्-सा लगा। किंतु पहचानते देर नही लगी—उसने ज्यों ही सिर उठाया, चाँदी की बालियाँ जो चमक उठीं।

रजिया ! यहाँ कैसे ? मेरे मुँह से निकल पडा।

सौदा-सुलफ़ करने आयी हूँ मालिक। अब तो नये क़िस्म के लोग हो गये न ? अब लाह की चूड़ियाँ कहाँ किसी को भाती हैं। नये लोग, नयी चूड़ियाँ। साज-सिंगार की कुछ और चीज़े भी ले जाती हूँ—पौडर, किलप, क्या-क्या चीज़े न ? नया ज़माना, दुल्हनो के नये मिजाज।

फिर ज़रा-सा रुककर बोली—सुना था, आप यहीं रहते हैं। कहाँ रहते हैं मालिक ? मैं तो अक़्सर आया करती हूँ।

और जब तब पूछूं कि अकेली हो या···कि एक अधवयस आदमी ने आकर सलाम किया। यह हसन था। लंबी-लबी दाढ़ियाँ, पाँच हाथ का लबा मुस्तंडा भी। देखिये मालिक, यह आज भी मेरा पीछा नही छोड़ता। यह कहकर रजिया हंस पडी। अब रजिया वह नही थी, किंतु उसकी हँसी वही थी। वही हँसी, वही चुहल। इधर-उधर की बहुत-सी बाते करती रही और न जाने कब तक जारी रखती कि मुझे याद आया, मै कहाँ खड़ा हू और अब मैं कौन हूँ ? कोई देख ले तो।

किंतु वह फुर्सत दे तब न। जब मैने जाने की बात की, हसन की ओर देखकर बोली—क्या देखते हो, जरा पान भी तो मालिक को खिलाओ, कितनी बार हुमच-हुमचकर भर पेट ठूंस चुके हो बाबू के घर।

जब हसन पान लेने चला गया, रजिया ने बताया, किस तरह दुनिया बदल गयी है। अब तो ऐसे गाँव है, जहाँ के हिंदू मुसलमानो के हाथ से सौदा नही खरीदते। अब हिंदू चूडिहारिने है, हिंदू दरजी है। इसलिए रजिया ऐसे खानदानी पेशे वालो को बड़ी दिक्कत हो गयी है। किंतु रजिया ने यह खुश-खबरी सुनायी, मेरे गाँव मे यह पागलपन नही और मेरी रानी तो सिवा रजिया के किसी दूसरे के हाथो से चूडियाँ लेती ही नही।

हसन का लाया पान खाकर जब मै चलने को तैयार हुआ, वह पूछने लगी, मेरा डेरा कहाँ है। मै बड़ पेशोपेश मे पड़ा। डरिए मत मालिक, अकेले नही आऊंगी, यह भी रहेगा। क्या मेरे राजा यह कहकर वह हसन से लिपट पडी। पगली, यह शहर है शहर। यो हसन हँसते हुए उसने बांहे छुडायी और बोली, बाबू बाल-बच्चो वाली हो गयी, किंतु इसका बचपना नही गया।

और दूसरे दिन पाता हूँ, रजिया मेरे डेरे पर हाजिर है। मालिक, ये चूड़ियाँ रानी के लिए—कहकर मेरे हाथो मे चूडियाँ रख दी। मैने कहा, तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वही दे देना।

नही मालिक, एक बार अपने हाथ से भी पिन्हा देखिये ? वह खिलखिला पड़ी। और जब मैने कहा—अब इस उम्र मे। तो वह हसन की ओर देखकर बोली, पूछिये इसस, आज तक मुझे यही चूड़ियाँ पिन्हाता है या नही ? और जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली—घाघ है मालिक, घाघ, कैसा मुँह बना रहा है इस समय, लेकिन जब हाथ म-हाथ लेता है···ठटाकर हँस पड़ी, इतने जोर से कि मै चौककर चारो तरफ देखने लगा।

हाँ, तो अचानक उस दिन उसके गाँव मे पहुँच गया। चुनाव का चक्कर, जहाँ न ले जाये, जिस औघट-घाट पर न खडा कर दे। नाक से पेट्रोल के धुएँ की गध, कान मे सायँ-सायँ की आवाज, चेहरे पर गर्द-गुबार का अबार—

परेशान बदहवास, किन्तु उस गाँव में ज्यों ही मेरी जीप घुसी, मैं एक खास क़िस्म की भावना से अभिभूत हो गया।

यह रज़िया का गाँव है, यहाँ रज़िया रहती थी। किन्तु क्या आज मैं यह भी पूछ सकता हूँ कि यहाँ कोई रज़िया नाम की चुड़िहारिन रहती थी, या है? हसन का नाम लेने में भी शर्म लगती थी। मैं वहाँ नेता बनकर गया था। मेरा जय-जयकार हो रहा था, कुछ लोग मुझे घेर खड़े थे। जिसके दरवाज़े पर जाकर पान खाऊँगा, वह अपने को बड़भागी समझेगा। जिससे दो बातें कर लूंगा वह स्वयं चर्चा का एक विषय बन जाएगा। इस समय मुझे कुछ ऊँचाई पर ही रहना चाहिए।

जीप से उतरकर लोगों से बातें कर रहा था, या यों कहिये कि कल्पना के पहाड़ पर खड़े होकर एक आनेवाले स्वर्ण-युग का संदेश लोगों को सुना रहा था, किन्तु दिमाग़ में कुछ गुत्थियाँ उलझी थीं। जीभ अभ्यासवश एक काम किये जा रही थी, अंतर्मन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा था। दोनों में कोई तारतम्य न था, किन्तु इसमें से किसी एक की गति में भी बाधा क्या डाली जा सकती थी?

कि अचानक, लो यह क्या? वह रज़िया चली आ रही है। रज़िया! वह बच्ची। अरी रज़िया फिर बच्ची हो गयी? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भर बाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें, जिन्हें सम्हालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालीस साल का व्यवधान। अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा? दिन में सपना? वह आती है, गब्बर ऐसी भीड़ में घुसकर मेरे निकट पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड़ कर कहती है—चलिये मालिक मेरे घर।

मैं भौंचक्का, कुछ सूझ नहीं रहा, कुछ समझ में नहीं आ रहा। लोग मुस्करा रहे हैं। नेताजी, आज आपकी कलई खुलकर रही। नहीं। यह सपना है कि कानों में सुनायी पड़ा, एक कह रहा है—कैसी शोख लड़की। और दूसरा बोलता है ठीक अपनी दादी जैसी। 'और तीसरे ने मेरे होश की दवा दी—यह रज़िया की पोती है बाबू! बेचारी पड़ी है। आपकी चर्चा अक़्सर किया करती है। बड़ी तारीफ़ करती है। बाबू फ़ुर्सत हो तो ज़रा देख लीजिये, न जाने बेचारी जीती है या···

मैं रज़िया के आँगन में खड़ा हूँ। ये छोटे-छोटे साफ़-सुथरे घर, यह लिपा-पुता चिक्कन-ढुर-ढुर आँगन। भरी-पूरी गृहस्थी— मेहनत और दयानत की देन। हसन चल बसा है किन्तु अपने पीछे तीन हसन छोड़ गया है। बड़ा बेटा कलकत्ता में कमाता है, मँझला पुश्तैनी पेशे में लगा है, छोटा शहर में पढ़ रहा है। यह बच्ची बड़े बेटे की बेटी। दादा का सिर पोते में, दादी का चेहरा

पोती में। हूबहू रज़िया—दूसरी रज़िया मेरी उँगली पकड़े आँगन से पुकार रही है— दादी, ओ दादी घर से निकल, मालिक दादा आ गये। किन्तु पहली रज़िया निकल नहीं रही। कैसे निकले? बीमारी के मैले-कुचैले कपड़े में मेरे सामने कैसे आये!

रजिया ने अपनी पोती को तो भेज दिया, किन्तु उसे विश्वास न हुआ कि हवागाड़ी पर आने वाला नेता अब उसके घर तक आने की तकलीफ कर सकेगा? और जब सुना मैं आ रहा हूं, तो बहुओं से कहा, जरा मेरे कपड़े तो बदलवा दो--मालिक से कितने दिनों पर भेंट हो रही है न?

उसकी दोनों पतोहुएँ उसे सहारा देकर आंगन में ले आयीं। रजिया—हाँ, मेरे सामने रजिया खड़ी थी। दुबली-पतली रूखी-सूखी। किंतु जब नजदीक आकर उसने मालिक कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गयीं, जिन्होंने उसके चेहरे को मकड़जाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और उठीं, वे नीली आँखें, जो कोटरों में धंस गयी थीं। और, अरे चमक उठी है आज फिर वे चाँदी की बालियाँ और देखो, आने को पवित्र कर ला, उसके चेहरे पर फिर अचानक लटककर चमक रही हैं वे लटें, जिन्हें समय ने धो-पोंछकर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।

15

रामनाथ की बात

—जैनेन्द्र कुमार

अभी उस रोज एक हितैषी भाई ने कहा—'कम्युनिज्म के तुम क़ायल नही मालूम होते हो।' फिर दो-तीन किताबो के नाम सुझाते हुए पूछा—'ये किताबें पढी है ?''

वे किताबे मैंने नही पढ़ी थी, शायद एकाध उनमे पढी भी गयी हो। किताबें वे मार्क्स की और लेनिन—स्टालिन की थी। 'कैपिटल' मैने नही पढ़ा है, तो भी दिन हुए मार्क्स का लिखा इधर-उधर का काफ़ी-कुछ मैने पढा था। याद पड़ता है, स्टालिन की 'लेनिनिज्म' किताब भी पढी थी। पढते वक्त दिमाग पर जोर पडा था। यानी रस अनुपात में कम मिला था। पर मेरी अवस्था तब वह थी जब कसरत खुद अपने लिए प्रिय होती है। तब विद्या का मैं अर्थी था। पर विद्या टिकती उतनी ही है, जितनी अपने मे विद्या रहकर जीवन मे हल हो जाती है। अपना सब अर्थ ही कोई विद्या मे रख बैठे, तो ऐसे वह सहज निकम्मा बन सकता है। यानी जो तब पढा था, कोशिश की थी कि मस्तक मे रहे। इसी से है कि वह जल्दी-से-जल्दी सुविधा पाकर वहाँ से उतर गया है।

अत: मैने हितैषी से कहा—'नही, नही पढी।'

बोले—''पढ़ डालो। जरूर पढना चाहिए। तुम्हारी भ्रान्ति दूर हो जायगी।'

'भ्रान्ति ! क्या भ्रान्ति ?'

'तुम कम्युनिज्म के पक्ष मे नही हो न ! इसमें भ्रान्ति ही तो हुई। पढ़ोगे, तो जानोगे। और जानोगे, तो माने बिना न रहोगे कि जगत् के लिए आशा उसी मे है।'

मैं चुपचाप रहा, उत्तर नही दिया। सोचा, जानना तो सही ही है और जाने बिना राय रखना या देना जरूर ग़लत है।

मित्र बोलते गये—'लोग कहते है, वह दर्शन नकारवादी है। इससे उसकी नीति भी नकारात्मक है। और उस नीति मे से निकली प्रवृत्ति ध्वंसात्मक होगी।

यह अज्ञान है। असल मे कुछ अवैज्ञानिक भावुक शब्दों ने हमे पकड़ रखा है। हिंसा शब्द से क्या हमे डरना होगा ? निर्माण के लिए ध्वस जरूरी है। ढहेगा नही, तो बनेगा किस आधार पर? समाज का हमे क्या नया निर्माण नही करना है ?' क्या हम कहेगे यह देखकर कि मौजूदा सड़ा-गला समाज ध्वस्त-ध्वस्त किया जा रहा है ? यह सच है कि छोटे दिलवाला कम्युनिस्ट नही हो सकता। जिसको अपनी जान की या दूसरे की जान की फिक्र है, उससे फिर भविष्य का क्या भला होगा ! इन छोटी बातो पर क्या तुम चाहोगे कि हम अटके रहे ? सौ हजार-लाख आदमी, वे जो भावी को अपनी आसक्तियो मे रोकना चाहते है, राह मे गिरे और मरे, तो क्या इस पर ठिठकना होगा ? तुम गाधी को मानते हो, मैं भी मानता हूँ। वह महामानव था। जाने उसकी अहिंसा क्या थी ? शायद वह हिन्दुस्तान की निहत्थी हालत मे अपनाई गई एक नीति थी। पर गाधी अपना काम कर गया। अंग्रेज यहा से गये और बेजोड उसने मौत पाई। अब क्या सचमुच तुम चाहते हो कि हिंसा-अहिंसा के पचडे मे पडकर हम रुक जायँ ? हम रुक सकते है, पर गति नही रुक सकती। विकास तो नियत है। विश्व का और वश नही। या तो वह विकास हममे और हमारे द्वारा होगा, नहीं तो हमारे बावजूद होगा। यानी हम बाधा होगे, तो हमको कुचलते हुए विश्व की गति को आगे बढते जाना होगा। इससे कहता हूँ, रामनाथ पढो। किताबे मेरे एक मित्र के यहाँ है—उन्हे कह दूगा।'

मै साभार सुनता रहा। लेकिन मै डर था। ज्ञान इतना है कि पार नही। मेरे चालीस वर्ष निकल गये है। क्या उनमे इस अथाह की एक बूंद भी मै अपने मे रोक पाया हूँ ? जन्म-पर जन्म लेता जाऊँ, तो भी ज्ञान का पहाड क्या पढ़-पढकर मुझमे चुकेगा ? फिर कौन बताये कि जन्म होते ही है। और नित नया ज्ञान अनगिनत जिल्दो मे बँधकर उस पहाड के ऊपर बराबर बैठता ही चला जा रहा है। ऐसी स्थिति मे अपने निपट अज्ञान को लेकर मुझे सचमुच क्या करना होगा, एकाएक सूझ नही पाया। मालूम हुआ है, आँख मूँदकर पढने ही जाना होगा। ज्ञान ही तो दीप है। और राह अँधेरी है। दीप बिना अँधियारी राह कैसे कटेगी ? और यह जो हितैषी मित्र है, किताबों के नाम बतलाने के साथ उन्हे पहुँचाने की तैयारी भी जतलाते हैं। तो क्या सब काम छोडकर उन किताबो को ही पहले पढने मे नही लग जाना होगा ? कारण, साक्षरता अनिवार्य है। तब इस 'इज्म' को, जिस पर अक्षर समाप्त है, जानने से बचने का उपाय कैसे हो सकता है ? यो तो सिर रेत मे गाड़कर कुछ काल जीने का भी एक तरीका है, जो कतिपय जन्तु अपनाते हैं। लेकिन इनसान होकर वह तरीका अपने बस का कहाँ है। इस तरह बचाव का उपाय नहीं

है। वह 'इज़्म' छा रहा है, चीन गया ही और जाने किन-किन की आगे बारी है। सो ज़रूरी है, अपनी खातिर और हाँ भविष्य की भी खातिर कि उसे जाना जाय। जानकर यह आप पर है कि बैरीकेड के आप इधर हों या उधर हों। यानी उस 'इज़्म' के प्रचारक हों, नहीं तो उसके शिकार हों। जल्दी से जल्दी आवश्यक ज्ञान पाकर आपको फ़ैसला कर लेना है। काम में देरी ख़तरे की हो सकती है।

मेरे असमंजस को मित्र सहानुभूति से देखते रहे। मानो जल्दी ही वे मुझे थपकी दे आएँगे, कहेंगे—'शाबाश!' इससे मैंने धीमे से शुरू किया—'किताबें!'

सहायता में लपक कर बोले—'हाँ, किताबें लाइब्रेरी में न मिलें, तो मित्र के यहाँ मिल जायँगी, या मैं भिजवा दूँगा, या मेरे यहाँ कल आ ही न जाओ। पहले स्टालिन की 'लेनिनिज्म' देख जाना। वह तो शायद मेरे पास भी होगी···'। फिर उन्होंने और कुछ कहा, जो उनकी निर्विन्ता और उन्नतता और ज्ञानार्णव-सम्बन्धी उत्तीर्णता प्रकट करता था। अन्त में मुझे राह के बीच छोड़ वे चले गये।

इस बात को तीन दिन हो गये हैं। मुझे माफ़ी माँगनी चाहिए कि मैं मित्र तक नहीं पहुँच सका हूँ और स्टालिन का 'लेनिनिज्म' मुझ तक नहीं आ सका है। प्रमाद ही कहिये, जो सब पापों का मूल है। पर मैं कुछ कह नहीं सकता। बात यह भी है कि पत्नी की तबीयत ठीक नहीं रहती है। काम के लिए वे अकेली हैं और खाने के लिए हम सात प्राणी हैं। फिर काम यदि पूरा है, तो दाम एकदम नदारद है। उससे, मालूम होता है, काम की गाड़ी ही अड़ जाती है। काम, यानी लेबर, दाम यानी कैपिटल। कैपिटल हूँ इस घर में मैं पति। इससे लेबर में हुई पत्नी। किन्तु मैं हूँ बेदाम। अतः पत्नी के लिए है केवल शुद्ध काम। कारण, लेबर और कैपिटल की समस्या, जो विश्व की है और सत्य की समझी जाती है, उसको हल होना है विराट विश्व में अथवा गूढ़ तत्त्व में। इसलिए उसे छोटे-से अपने घर में और संक्षिप्त अपने जीवन में हल करने में भला कैसे लगा जा सकता है! आमूल-चूल क्रान्ति से और राज हथियाने से पहले कोई आदमी या घर अपने को ठीक करने में कैसे भूल सकता है?

मित्र बाज़ार में मिले थे। वहाँ उनके शब्द जिस गहन प्रश्न और गुरु-कर्त्तव्य को मेरे समक्ष प्रत्यक्ष कर गये थे, पर आते ही वह परोक्ष ही रहा। मित्र ने मोटर में बैठे-बैठे सिगार के धुएँ के बीच से जो-जो कहा था, अत्यन्त सारभूत जान पड़ा। घर आते ही पत्नी ने उसकी निस्सार तुच्छता को इस

भाँति मेरे आगे प्रत्यक्ष कर पटका कि क्षण भर तो, निरुत्तर, मैं ठिठक रहा और फिर क्षण-बाद लड़ने को उद्यत हो आया।

पत्नी ने पूछा—'क्या ले आये ?'

'दवा !'

इतना मुँह से निकाल आगे किसी अमोघता का उच्चारण किया चाहता था कि पत्नी ने कहा 'नही लाये, अँ-अँ ··?'

मै हठात् गुस्से मे हो आया, बोला—'तो मगा क्यो न ली ?'

अचम्भे म वे मेरी ओर देखती रही। उस विस्मय के भाव पर मेरा क्रोध और उफना, कहाँ—'हाँ, क्यो मगा नहीं ली ? मै कुछ नही जानता।'

पत्नी इस पर क्या कहती। जो था, मैं जानता था। पत्नी उसी निपट यथार्थ को मुझे क्या जतलाती ? घर मे न कोई और दवा लाने वाला था, न लाने वाले पैसे। हक-बक मेरी तरफ़ टक बाँधकर देखती रहीं उनकी आँखें जैसे और फैल आईं। उस दृष्टि की विवशता को देखकर मेरे अन्दर जाने क्या-क्या न कह डाला, वह यहाँ दोहराऊँगा नहीं। अनकहनी सब कह गया और फिर धमक के साथ वहाँ से चलकर अपने कमरे मे आया और मोटी-सी किताब खींचकर पढ़ने बैठ गया।

एक शब्द है 'एस्केप'। मै नहीं जानता, उसका ठीक क्या मतलब है। व्यक्तिगत समस्या को नेस्तनाबूद करके उसी के निर्वैयक्तिक रूप को मैं उस मोटी किताब की सहायता मे अपने मन म उठाने लग गया। तरह-तरह के जोरो से मैंने अनुभव कर लेना चाहा कि समस्या मेरी नहीं है। वह श्रेणीगत विग्रह की है और मुझे उसे हल नही करना है, श्रेणी-चेतना और श्रेणी घृणा को चेताने म लग जाना है। मैंने उस रोज खाना नहीं खाया। ध्यान भी नही किया कि खाना बना है कि नहीं। कमरे से उठकर जल्दी लाइब्रेरी मे आ गया, जहाँ स्टालिन की 'लेनिनिज्म' जिल्द मिल गयी और मैं उसमें डूब गया।

अब एक और शब्द है 'प्रतिक्रिया'। उसका भी ठीक-ठीक मतलब मै नहीं जानता हूँ। घर ग्यारह बजे से पहले नहीं पहुँचा और जाते ही बिस्तर पर पड़े किताब पढने मे लग गया। उस क्षण मुझे यह प्रकट था कि विवाह-संस्था बुर्जुआ है, अर्थ-बन्ध पर आश्रित है, और प्रेम को एक के अथवा अर्थ के बन्धन से मुक्त करना होगा। बिस्तर पर पड़े-पड़े कब नींद आयी, कब सवेरा हुआ, कब पत्नी उठी, बुहारी सफ़ाई हुई और क्या-क्या कुछ हुआ, मुझे पता नही चला। पता तब चला, जब सवेरे सिरहाने आकर कहा गया—'अजी उठो, नाश्ता तैयार हो गया।'

मैं एकदम नही उठना चाहता था। दिन चढ आया, नाश्ता सौ दफे तैयार हो जाय, तो इससे क्या ? यानी तत्काल मै किसी तरह नही उठ सका। लेकिन और उपाय भी क्या था ? आखिर ले-देकर उठा, जो करना था, किया। और चाहता था झटपट अपने पढने के कमरे मे जा पहुँचूं कि सुना—'लो आओ न, नाश्ता ठण्डा हो रहा है।'

झटके से बोला—'क्या ?'

पत्नी से कहा—'बच्चू, पटडा-चौकी डाल दे न जरा। आओ, बैठो।'

कुछ भी और न सूझा जाने क्या-क्या मनसूबे दिल पे दिल मे रह गये। मेरे सामने-सामने चौकी रखी गई, पटडा पडा और मुझमे सिवा इसके कुछ न करते बना कि जाऊँ और बिछे पटडे पर जाकर बिराज जाऊँ।

लीजिये, सब कुछ हो गया। मालूम होता था, घन घिर आये है। ऐसी बिजली कडकेगी कि जगत् एक बार प्रकाशित हो उठेगा। और फिर ऐसी मूसलाधार पडेगी कि सब प्रलय हो जाएगा। पर वह सब कुछ जैसे फूँकने मे उड गया। पत्नी ने मुस्कराकर पूछा—'कल क्या खाया ?'

उत्तर मे मैने अपने सामने का प्रसाद दिखाकर पूछा—'यह सब कहा से किया ?'

बोली—'तुम फिक्र मत करो। पैसा आना होगा, तब आ जायेगा। नाहक क्यो परेशान होते हो ?'

नाश्ता मेरे गले मे अटकता मालूम हुआ। मानो आँसू गीले धुएँ की ग्रन्थि बनकर गले मे कही उठते-उठते अटक गया हो। मुझमे उत्तर नही बना। करुणभाव से कुछ मुस्करा ही सका होऊँगा।

कि पत्नी बोली—'सोच-फिक्र काहे को करते हो ? थोडी बहुत मजूरी तो मै कर सकती हूँ। भगवान ने चाहा, तो सब ठीक हो जायगा।'

मजूरी ! भगवान !! ये शब्द गोली की तरह मेरे अन्दर घुसते चले गए। लाछना की तीखी लकीर कलेजे पर खिच आई और मुझे याद आया : कम्युनिज्म।

पत्नी बोली—'जो मन हो, किये जाओ। काम से सब ठीक हो जायगा। गरीबी मे लाखो है, जो गुजर करते है। हम कोई बिरले है ? तुम मन को ज्यादा त्रास क्यो देते हो ? इधर-उधर की सोचने से क्या फायदा है ? मुझ पर भरोसा करो। हर हाल मै तुम्हारी सेवा मे हूँ। और इधर तुम अपने तन का खयाल नही रखते हो, यह ठीक नही है। ऐसे कैसे चलेगा ? तुम मेरी और बच्चों

की चिन्ता मे क्यों घुलते हो ? सब अपनी किस्मत लाते है। तुम खुश रहा करो, बस इतना चाहिए।'

मैने अपने साथ जोर-जब्र करके मुस्कराते हुए पूछा—'यह सब तुमने कैसे क्या किया ? पैसा तो घर मे एक न था !'

बोली—'किया कुछ, तुमसे मतलब—यह छोड़ो नही ? आधा गिलास तो था, सब पी जाओ। नही पीना पड़ेगा।'

मैने जोर लगाकर कहा—'बस अब पीया नही जाता।'

'पीया नही जाता ! जरा तो है, नही—फेंक दो।'

मैंने सब पी लिया और कृतज्ञता से इतना विभोर हो आया कि वहाँ ठहर न सका। कमरे मे आकर बिना किताब खोले सामने सूनी दीवार मे देखता हुआ मै बहुत देर तक बैठा रहा। बैठा-बैठा सोचता रहा। नही, सोचता नहीं रहा, बैठा ही रहा। लेकिन मैंने पा लिया कि 'लेनिनिज्म' की किताब के लिए लाइब्रेरी मे या मित्र के यहाँ जाना अब उतना जरूरी नही रह गया है। इस काम के लिए अब अवकाश आवश्यक नही है। जानना यहाँ क्या है ? करना जो इतना सामने पड़ा है। करने से अलग होकर जो जानना है, वह न भी जाना गया, तो क्या विशेष हानि होनेवाली है ?

दीवार मे देखते-देखते मालूम हुआ कि मुझे करना होगा। जो बनेगा, करूँगा। प्रेम को सार्थक किये बिना दूसरा चारा नही है।...लेकिन फिर मार्क्स और लेनिन और स्टालिन का क्या होगा ? और उनकी किताबों का ? और चीन पर छा रही बने कम्युनिज्म का ? और एशिया और यूरोप मे छा जाने वाले उस दर्शन और आन्दोलन का। जिनमें सत्य की घोषणा है और वज्र की भरमार ? उन सबका क्या होगा ? ..ओह, मेरी ओर से वे हैं, हों, रहे। पर प्रेम को सार्थक होना है। सब कुछ के द्वारा उसी को सार्थक होना है। मार्क्स लेनिन-स्टालिन द्वारा, और उनके इज्म द्वारा, और मेरे-तुम्हारे द्वारा हर तरह प्रेम को सार्थक होना है। अरे सब करना-धरना क्या इसी मे समाया नही है ?

सूनी दीवार मे देख-देखकर जैसे मै जानता चला गया कि प्रेम को इन्कार नही हो सकेगा। कितने ही हम रूठे और गुस्सा करे और नफ़रत करे। वह टिकनेवाला नही है। कारण, वह प्रतिक्रिया है। सारे भभकने और धधकने के बाद उसे प्रेम के छीटे पाकर शान्त ही रहना है। अन्त में उसे पहचानना ही है कि सारा जानना और करना प्रेम को देने और पाने के लिए है। उस इष्ट मे सब समाया है। वही सार्थकता रहनेवाली है, शेष निरर्थकता मिट जाने वाली है। अप्रेम अपने-पर टिकनेवाले को नहीं जिला सकेगा।

तीन-चार के बाद अब सात-आठ दिन हो गए हैं। मैं मित्र के यहाँ नहीं गया हूँ और इन पंक्तियों के साथ क्षमायाचनापूर्वक उन्हें लिख दे रहा हूँ कि कम्युनिज़म को मैं नही जानता हूँ। पर जानने की स्पर्धा भी अब अपने पास नही रख सकता हूँ। आशा है कि वह और उसके नायक मार्क्स, लेनिन और स्टालिन प्रेम की चाकरी मे ही अपने को सफल करना चाहते थे और चाहते हैं। उस राह पर है, तो सच है। उस पर नहीं है, तो फिर मैं उसे या उन्हें ही नही जान पाऊँ तो उनकी अवज्ञा इसमें न मानिएगा।

16

रामा

—महादेवी वर्मा

रामा हमारे यहाँ कब आया यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन मे जिस प्रकार हम बाबूजी की विविधता भरी मेज से परिचित थे, जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों का सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे, जिस पर सोकर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे और माँ के शंख घड़ियाल मे घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे, जिनका भोग अपने मुँह मे अंतर्धान कर लेने के प्रयत्न मे हम आधी आँखे मीचकर बगुले के मनोयोग से घंटी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीर वाले रामा के बड़े नखों से लबी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

साँप के पेट जैसी सफ़ेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उँगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से लेकर सोने के समय तक हमारा उससे जो विग्रह चलता रहता था उसकी अस्थायी संधि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दशाएँ खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुंब को बड़े-बूढ़े के समान सँभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गये थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानों पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में जा पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गंभीर और प्रशांत होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे मे से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट-से-स्पष्टतर होने लगती है, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं। उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जाने वाला, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर ढक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौहे छोटी-छोटी स्नेहतरल आँखें कभी-कभी स्मृति पट पर अकित हो जाती है और कभी धुँधली होते-होते एकदम खो जाती है। किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अतिम भूल जैसी अनगढ मोटी नाक, साँस के प्रवाह मे फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भरकर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली मे दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद दतपक्ति के सबध मे भी यही सत्य है।

रामा के बालो को तो आधा इच से अधिक बढने का अधिकार ही नहीं था, इसी से उसकी लबी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिए घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊँ का ठौर थी, क्योकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए हम ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था, परतु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमे असह्य थी।

वास्तव मे जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, पर वह सामजस्य की रेखाओ मे जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता मे नही। जैसे हम बाह्य रूपो की विविधता मे उलझते जाते है वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते है। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नही होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहाँ उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणे फूटती जान पड़ती है वहाँ वह व्यक्त विषम रेखाओ की अपक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम मे जीवन ढका रहता है, वहाँ वह बाह्य सामजस्य को भी ग्रहण नही करता।

इसी से रामा हमे बहुत अच्छा लगता था। जान पडता है उसे भी अपनी कुरूपता का पता नही था तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनो तक ऊँची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकाश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने को उपयुक्त सामग्री का अभाव नही था क्योकि कोठरी मे अस्तर लगा लंबा कुरता, बँधा हुआ साफा बुन्देलखडी जूते और गठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पडते थे। उनकी अखड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति मे यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाँहो मे लाठी को अटकाकर खिलौनो का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूंटी से उतारकर उस गुडियो का हिडोला बनाने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखडी जूतो को हौज मे डालकर गुड्डो के जल-विहार का स्थायी प्रबध किया जावे। पर रामा अपने अधेरे दुर्ग के चर्रमर्र मे

डाँटते हुए द्वार को इतनी ऊँची अर्गला से बंद रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके वह भी उसी के समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी, पापड़ आदि के अक्षय-कोष को धूप दिखा रही थी तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए माताई ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो' कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर माँ जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकी तब समस्या और भी जटिल हो गयी। क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नही, जिसमे उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुंदेलखंड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर मागता-खाता इंदौर तक जा पहुँचा था जहां न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति मे रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या?

उस दिन संध्या समय जब बाबूजी लौटे तो लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने मे रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे और दूसरे मे लंबी लाठी समाधिस्थ थी। और हाथ-मुँह धोकर नये सेवाव्रत मे दीक्षित रामा हक्का-बक्का-सा अपने कर्त्तव्य का अर्थ और सीमा समझने मे लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गये। हँसते-हँसते पूछा—यह किस लोक का जीव ले आये है धर्मराज जी? माँ के कारण हमारा घर अच्छा खासा जू बना रहता था। जब बाबूजी लौटते तब प्रायः कभी कोई लगड़ा भिखारी बाहर के दालान मे भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र-बालक नया कुरता पहनकर आँगन मे चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई वृद्धा ब्राह्मनी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नही प्रकट की, पर उन्हे चिढ़ाने मे वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होने क्षण भर का अतिथि समझा, पर मा शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठी, मैने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षण भर विश्राम नहीं करता वह केवल अपने लिए नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर

ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया—विनोद ने कहा—ठीक ही है, नास्तिक जिससे डर जावे ऐसे खास साँचे मे ढले सेवक ही तो धर्मराज जी की सेवा मे रह सकते हैं।'

उन्हे अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नही हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता, क्योकि वे किसी की पात्रता अपात्रता का मापदड अपनी सहज सवेदना ही को मानती थी। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया, उसमे अक्षय सौन्दर्य न होगा ऐसा सदेह उनके लिए असभव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया, पर उसका कर्त्तव्य निश्चित करने की समस्या नही सुलझी।

सब कामो के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोई-घर का कार्य माँ किसी को सौप ही नही सकती थी। आरती, पूजा आदि के सबध मे उनका नियम जैसा निश्चय और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सबध मे उससे कम नही।

एक ओर यदि उसे विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ धारणा थी कि उनका स्वय भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए एकात आवश्यक है।

हम सब एक दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बडे थे, अत हमारे अबोध और समझदार होने के समय मे विशेष अतर नही रहा। निरतर यज्ञ-ध्वस मे लगे दानवो के समान हम माँ के सभी सगान अनुष्ठानो मे बाधा डालने की ताक मे मँडराते रहते थे, इसी मे वे रामा को, हम विद्रोहियो को वश मे रखने का गुरु कर्त्तव्य सौपकर कुछ निश्चित हो सकी।

रामा सवेरे ही पूजा-घर साफ कर वहाँ के बर्तनो को नीबू से चमका देता—तब वह हमे उठाने आता। उस बडे पलग पर सवेरे तक हमारे सिर पैर की दिशा और स्थितियो मे न जाने कितने उलट-फेर हो चुके थे। किसी की गर्दन को किसी का पाव नापता रहता था, किसी के साथ पर किसी का सर्वांग तुलता होता था और किसी की सास रोकने के लिए किसी की पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियो का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के छद्मवेश मे, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसी की गोद के रथ, किसी को कधे के घोडे पर तथा किसी को पैदल ही, मुखप्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नही था, क्योकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामत्र तो लगातार जपना ही पड़ता था,

साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हें बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुँह खोलकर बोल उठता। 'लामा इन्हें क्यों लाजा कहते हो?' कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दंभ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उँगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओं वाली हथेली सुदर्शन चक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसी से हम साम-दाम दंड-भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देतीं कि वह केवल मुझी को राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को संतुष्ट करने का अमोघ मंत्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता 'तुमई बड्डे राजा हो जू, नन्हें नइयाँ' और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता, क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्ही उँगली डालकर दाँतो के स्थान में ओठ माँजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसी से मैं उसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूँदकर कौव्वे द्वारा पूजा पाने को उत्सुक कर देता। ैसे ही हम आँख मूँदते वैसे ही किसी के मुँह में अंगूर, किसी के दाँतों में बिस्कुट और किसी के होठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही ा, क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौव्वे की काली कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों में से काल्पनिक कौव्वे और उसकी चोंच से रामा के हाथ और उँगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का लालच छोड़कर उठ भागना अवश्यंभावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उल्टे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाये रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़ा

उड़न-खटोला आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न लोक के द्वार तक पहुँचा जाना रामा का ही कर्त्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरांत माँ से हमे कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कधे पर बैठाया और दूसरे को गोद लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा 'उगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया'। सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने यथासभव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया। 'क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।' बूढे हलवाई ने वात्सल्य भरकर पूछा, 'कैसा है तुम्हारा रामा?' मैंने होंठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा, 'बहुत अच्छा है।' इस हुलिया से रामा को पहचान लेना जितना असभव था। यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मै हार तो मानना नही चाहती थी, परतु पाँव थक चुके थे और मिठाइयो से सजे थालों मे कुछ कम निमत्रण नही था, इसी से दूकान के एक कोने मे बिछे टाट पर सामान्य अतिथि की मुद्रा मे बैठकर मै बूढे से मिले मिठाई रूपी अर्घ्य स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहाँ मुझे ढूँढते-ढूँढते रामा के प्राण कठगत हो रहे थे। सध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब मैंने विजय-गर्व से फूलकर कहा, 'तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा! रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिंदु जैसे आनन्द के आँसू ढुलक पड़े। वह मुझे घूमा-घूमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अग मेले मे छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ो के कोश मे छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है, पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने ही सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्यभरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मै ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ अतर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था! कहाँ से कौन-सी

परायी चीज़ लाकर रामा की छोटी आँखों को निराश विस्मय से लबालब भर दे इसी चिंता से हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था—'हाँ, राह एक बालिश्त चौड़ी मुँड़ेर मात्र थी, जहाँ से पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आँगन मे लगे फूल परायी वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं, यह निश्चय कर लेने के उपरांत हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए उस आकाश-मार्ग से फूल चुराने चले। किसी का भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती, पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के जीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुत्ती नन्हें-नन्हें बच्चे लिए बैठी थी। जिन्हें देखते ही हमे वस्तु के संबंध में अपना निश्चय बदलना पड़ा। पर ज्यों ही हमने एक पिल्ला उठाया त्योंही वह निरीह-सी माता अपने इच्छा भरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाव वाले गृहस्वामी निकल आये और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ी तब हम बड़े असमंजस में पड़ गये। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाता है यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मंतव्य प्रकट कर दिया। कहा—'हम छत की राह से फूल चुराने आये है।' गृहस्वामी हँस पड़े—पूछा 'लेते क्यों नहीं ?' उत्तर और भी गंभीर मिला, 'अब कुत्ती का पिल्ला चुरायेगे।' पिल्ले को दबाये हुए जब तक हम उचित मार्ग से लौटे तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेशरूपी अमृत वृक्ष मे यह विषफल लगते देख वह एक दम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़कर अधर में उठाते हुए पूछा, 'कहो जू, किते गए रहे।' पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमान-जनक लगता था इसी से दाँतों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दंड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ से कहा, 'रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये हैं और बड़े भी अब डाक्टर को बुलवाकर इन्हे ठीक कर दो और रामा को अँधेरी कोठरी मे बद कर दो।' वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सबध मे एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था उतना ही उसके राजा भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी संध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने

'गीत सुनाओ' कहकर संधि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था 'ऐसो सिय रघुवीर भरोसो' और उसे वह जिस प्रकार गाता था उससे पेड़ पर के चिड़िया, कौवे तक उड सकते थे। परंतु हमलोग उस अपूर्व गायक के अद्भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसी से रामा का उसमे विशेष महत्त्व है।

उस समय परिवार में कन्याओ की अभ्यर्थना नही होती थी। आँगन में गानेवालियाँ, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढे मे लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा मे बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक, एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गयी। बडी-बूढिया सकेत मे मूक गानेवालियो को जाने के लिए कह देती और बड़े-बूढे इशारे से नीरव बाजेवालो को विदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल मे कब ऐसा हुआ यह तो पता नही पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नही पधारी तब चिता होने लगी, क्योकि जैसे अश्व के बिना अश्वमेध नही हो सकता वैसे ही कन्या के बिना कन्यादान का महायज्ञ समव नही।

बहुत प्रतीक्षा के उपरात जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूंढ लाये, जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क मे इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मै जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नही इसमे सदेह है। 'मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान मे आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा मे मै अपने भाई-बहनो के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नही रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक मे ढूंढ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हे निरतर सतर्क रहना पडता था। नन्हे बाबू उछला नही कि मैंने किताब खोलकर पढा, 'बन्दर नाच दिखाने आया', मुन्नी रूठी नही कि मैंने सुनाया 'रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तब दौडो आवे।' वे बेचारे शास्त्र ज्ञान से बहुत चितित रहते थे, क्योकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूंढ

लेने का साधन उनके पास नहीं था। पर अक्षर-ज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा, कहानी और कहावत आदि का जैसा बृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों मे भी न समाता। इसी से जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर अपना निर्णय सबके कान में सुनाकर तुरन्त सधि करा देता।

मेरे पडित जी से रामा का कोई विरोध न था, पर जब खिलौने के बीच ही में मौलवी साहब, संगीत शिक्षक और ड्राइग मास्टर का आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझसे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाबे में छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था, जिससे बाबा के भेजे आमों में से दो-चार शेष भी थे उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ, माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गयी। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अत मे रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइग मास्टर से मुझे कोई शिकायत नही रही, क्योंकि वे खेलने से रोकते नही थे। सब कागजों पर लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी - जब किसी और का बनाना होता तो तब इसी ढाँचे मे कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज मे न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन सगीत सीखने के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मैं रामा से सीखती हूँ—जब उन्होने सुनाने का अनुरोध किया तब मैने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नही माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी ससार का काम चल सकता है यह हम नही मान सकते थे। माँ जब दस-पन्द्रह दिन के लिए नानी को देखने जाती तब रामा को घर और बाबूजी की देख-भाल के लिए रहना पडता था। बिना रामा के हम जाने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत नही होते, अतः वे हमे भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध मे रामा से अधिक सेवापरायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह शेष को लेकर ऊपर के खंड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नही निकली।

एक बार और उसी के कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इंदौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्था वाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आयी। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनायी थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेढक उत्पन्न कर दिया था। मैने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है मेरे कान से कहानी वाला मेंढक निकलेगा।' वह बेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गर्म टुकड़े को गीले कपड़े मे लपेटकर उससे उसे कितना सेका, यह बताना कठिन है। सेंकते-सेंकते न जाने वह क्या बड़बड़ाता रहता था। जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान का नाम सुनायी दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नही, तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गयी पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गयी और बहुत बीमार रहा, पर उसे सतोष था कि मैं सब कष्टो से बच गयी। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास माँ हमे ले जा सकी तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आये, धँसी आँखे उत्साह मे तैरने लगी और शिथिल शरीर मे एक स्फूर्ति तरगित हो उठी। माँ ने कहा, 'तुमने इसे बचा लिया था रामा ! जो हम तुम्हे न बचा पाते तो जीवन भर पछतावा रह जाता। उत्तर मे रामा बढे हुए नाखूनवाले हाथ से माँ के पैर छूकर अपनी आँखे पोछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब माँ प्रायः कहने लगी, "रामा अब तुम घर बसा लो जिसमे बाल-बच्चो का सुख देख सको।" 'बाई की बाते ! मोय नासमिटे अपनन खौ का कनने है, मोरे राजा हरे बने रहे — जेई अपने रामा की नैय्या पार लगा देहे' ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नही हो गये थे, उन्हे अपने प्रतिद्वंदी के रूप मे ही पहचान गये थे। हमे विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हे कभी नासमिटा, मुँहझौसा आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन अब अपनी कोठरी से लाठी, जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत

हो गये, क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर संदेह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा ?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ राजा भइया ऐसी देंही नासमिटन के' पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू के माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनंत और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरांत एक दिन सबेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ और राजा भइया, राजा भइया पुकारने लगा—हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े, पर बरामदे में सहमकर अटक रहे। रामा तो अकेला नही था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूड़े और पाँव में पैंजना पहने जो घूंघटवाली स्त्री खड़ी थी, उसने हमे एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूंघट मे से दो तीक्ष्ण आँखें उनके कार्य का मूक विरोध कर करने लगीं, नन्हे जब रामा के कधे पर आसीन होने के लिए ज़िद करने लगा तब घूंघट में छिपे सिर में एक निषेध-सूचना कपन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा, तब वह मूर्ति घूमकर खडी हो गयी। भला ऐसे आगतुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते है। जैसे-जैसे समय बीतता गया। वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी मे महाभारत के अंकुर जमते गये और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की संभावना बढ़ती गयी। हमारे खिलौने के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मय-दानव भी, पर अब वह अपने गुरु कर्तव्य के लिए अवकाश ही नही पाता था। वह आया नहीं कि घूंघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नही गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसी से एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊंचे स्थान पर बैठना चाहिए। अत: मैं मेज पर चढ़कर धरती पर न पहुँचने वाले पैर हिलाती हुई विराजी, मन्त्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापति जी स्टूल पर जमे। तब राजा ने चिंता की मुद्रा से कहा, "रामा इसे क्यों लाया है ?" माँ जी ने गभीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, "रामा इसे क्यों लाया है!" और सेनापति जी न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आँखे तरेरते हुए बोले—"छच है इछै कौं लाया है ?"

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे

एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा के रक्षार्थ दंड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापति जी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हें बाबू चुपके से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। इस प्रकार न जाने कितने दंड उसे मिलने लगे पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न संधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गयी और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अंत में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे! फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बंधन से मुक्ति पायी, क्योंकि वह हमारी अद्भुत सृष्टि का फिर वही चिर प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर माँ को अन्याय का कोई रूप असह्य था—रामा अपनी पत्नी को हमारे पुराने खिलौनों के समान फेंक दे, यह उन्हें बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्तव्य-ज्ञान सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी में मिलती है, जिसे पिता के स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना संभव न हो सका। बहुत दिनों के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है, माँ ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हें बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़नेवाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी, मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखानेवाले के बिना उसका चलना, ठहरना संभव नहीं हो सकता था, मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबंधक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचाने वाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौने के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से

रामा की कथा सुनाने के उपरांत कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बाँधकर लाठी लिए हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गयी हूँ कि राजा भइया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना-जैसी जान पड़ती हैं और खिलौने के संसार का सौन्दर्य भ्रांति हो गया है। पर रामा आज भी सत्य है, सुंदर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत मे खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक्, निस्तंद्र पर स्नेहतरल।

17

देवदारु

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

पता नही किसने इस पेड का नाम देवदारु रख दिया था, नाम निश्चय ही पुराना है, कालिदास से भी पुराना, महाभारत से भी पुराना। सीधे ऊपर की ओर उठता है, इतना ऊपर कि पासवाली चोटी के भी ऊपर उठ जाता है, एकदम द्युलोक को भेद करने की लालसा से। नीचे शाखाएँ मर्त्यलोक को अभयदान देने की मुद्रा मे फैलती चली जाती है, मानो कह रही हो, भय नही, मै जो हूँ। प्रत्येक शाखा को झबरीली टहनियाँ कँटीले पत्तो के ऐसे लहरदार छन्दो का वितान तानती है कि छाया चेरी-सी अनुगमन करती है। जिस आचार्य ने परिपाटीविहित शिष्टजनानुमोदित 'सज्जा' को 'छाया' नाम दिया था वह जरूर इस पेड की शोभा से प्रभावित हुआ था। पेड क्या है, किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्तिमान छन्द है—धरती के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितानो की शृखला को सावधानी से सम्हालता हुआ, विपुल-व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छन्द। कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड-वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्द्धा है—प्राण के आवेग की कैसी उल्लासकार अभिव्यक्ति है! देवताओ का दुलारा पेड नही तो क्या है। क्या यो ही समाधि लगाने के लिए महादेव ने 'देवदारुद्रुम-वेदिका' को ही पसन्द किया था? कुछ बात होनी चाहिए। 'कोई नही बता सकता कि महादेव समाधि लगाकर क्या पाना चाहते थे। उन्हे कमी किस बात की थी? कालिदास ने बताया है कि उन्होने इस प्रयोजनातीत (निष्प्रयोजन तो कैसे कहे) समाधि के लिए देवदारुद्रुम के नीचे वेदिका बनायी थी। शायद इसलिए कि देवदारु भी अर्थातीत छन्द है—प्राणो का उल्लासनर्तन, जडशक्ति के द्वारा आकर्षण को पराभूत करके विपुल-व्योम-मण्डल मे विहार करने का अर्थातीत आनन्द!

कहते हैं, शिव ने जब उल्लासातिरेक में उद्दाम-नर्तन किया था तो

उनके शिष्य तण्डु मुनि ने उसे याद कर लिया था। उन्होंने जिस नृत्य का प्रवर्तन किया उसे 'ताण्डव' कहा जाता है। 'ताण्डव' अर्थात् 'तण्डु' मुनि द्वारा प्रवर्तित 'रस भाव-विवर्जित' नृत्य ! रस भी अर्थ है, भाव भी अर्थ है, परन्तु ताण्डव ऐसा नाच है, जिसमें रस भी नहीं, भाव भी नहीं। नाचनेवाले का कोई उद्देश्य नहीं, मतलब नहीं, 'अर्थ' नहीं। केवल जड़ता के द्वारा आकर्षण को छिन्न करके एकमात्र चैतन्य की अनुभूति का उल्लास ! यह 'एकमात्र' लक्ष्य ही उसमें छन्द भरता है, इसी से उसमें ताल पर नियन्त्रण बना रहता है। एकाग्रीभाव छन्द की आत्मा है। अगर यह न होता तो शिव का ताण्डव बेमेज धमाचौकड़ी और लस्टम-पस्टम उछल-कूद के सिवा और कुछ न होता। ताण्डव की महिमा आनन्दोमुखी एकाग्रता मे है। समाधि भी एकाग्रता चाहती है। ध्यान-धारणा, और समाधि की एकाग्रता से ही 'योग' सिद्ध होता है। बाह्य-प्रकृति के द्वारा आकर्षण को छिन्न करने का उल्लास ताण्डव है। अन्त: प्रकृति के असंयत फिकाव को नियन्त्रित करने के उल्लास का नाम समाधि है। देवदारु वृक्ष पहले प्रकार के उल्लास को सूचित करता है, शिव का निर्वात 'निष्कम्पइवप्रदीप:', रूप दूसरे प्रकार के। दोनों में एक ही छन्द है। शिव ने समझ-बूझकर ही देवदारुद्रुम की वेदिका को पसन्द किया होगा। देवदारु के नीचे समाधिस्थ महादेव ! तुक मिल रहा है, शानदार तुक ! कौन कहता है कि कालिदास ने तुक मिलाने की परवाह नही की। मेरा मन कहता है कि कालिदास भी तुकाराम थे, तुक मिलाने के मौजी वागविलासी ! मगर ये तुक भोंड़े किस्म के नही थे, यह तो निश्चित है। 'झगरे-रगरे बगरे-डगरे' ये भी कोई तुक है। मगर सारी दुनिया इसी को तुक कहती आ रही है। कुछ-न-कुछ तो होगा ही। सारी दुनिया पागल नही हो सकती है। लेकिन यह भी सही है कि 'बात-ब्रात' मे तुक मिला करता है। अगर ऐसा न होता तो 'बेतुकी' हाँकनेवालो को बुरा न माना जाता जो लोग 'तुक की बात करते है' वे शब्द की ध्वनियों का तुक तो नही भिलाते। फिर तुक है क्या ?

तुक वह है जो देवदारु की गगनचुंबी शिखा और समाधिस्थ महादेव की निवात-निष्कप प्रदीप की ऊर्ध्वगामिनी ज्योति मे है ! अर्थात् तुक अर्थ मे रहता है। ध्वनि-साम्य के तुक में कुछ न कुछ अर्थचारुता होनी चाहिए। ध्वनिसाम्य साधन है, तुक अर्थ का धर्म होना चाहिए। मगर कहना खतरे से खाली नही है। किसी नये आलोचक ने अर्थ को लय की वकालत की है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि सारी पण्डित-मण्डली उस ग़रीब पर बरस पड़ी है। अगर तुक अर्थ मे मिल सकता है तो लय क्यों नही मिल सकता। मेरे अन्तर्यामी कहते हैं कि तुक तो अर्थ में नहीं रहता है लय नहीं रहता। बहुत से लोग अन्तर की आवाज़ को आँख मूंदकर मान लेते है। मैं नहीं मान पाता। आँख खोलने

पर भी यदि अंतर की आवाज ठीक जँचे तो मान लेना चाहिए। क्योंकि उस अवस्था में भीतर और बाहर का तुक मिल जाता है। शिवजी ने अतर और बाहर का तुक मिलाने के लिए ही तो देवदारु को चुना था। अन्तर्यामी भी बहिर्यामी के साथ ताल मिलाते रहे यही उचित है। महादेव ने आँखे मूंद ली थीं, देवदारु ने खोल रखी थी। महादेव ने भी जब आँख खोल दी तो तुक बिगड़ गया, छन्दोभंग हो गया, त्रैलोक्य को मदविह्वल करनेवाला देवता भस्म हो गया। उसका फूलों का तूणीर जल गया, रत्नजटिल धनुष टूट गया। सब गड़बड़ हो गया। सोचता हूँ, उस समय देवदारु की क्या हालत हुई होगी। क्या इतनी ही फ़क्कड़ाना मस्ती से झूम रहा होगा? क्या ऐसा ही बेलौस खड़ा होगा? शायद हाँ, क्योंकि शिव की समाधि टूटी थी, देवदारु का ताण्डव-रसभावविवर्जित महानृत्य—नही टूटा था। देवता की तुलना मे भी निर्विकार रहा—काठ बना हुआ। कौन जाने इसी कहानी को सुनकर किसी ने इसे 'देवता का काठ' (देव-दारु) नाम दे दिया हो। फक्कड़ हो तो अपने लिए हो बाबा, मनुष्य के लिए तो निरकाठ हो, दया नही, माया नही, आसक्ति नही, निरे काठ! ऐसो से तो देवता ही भला! कही न कही उसमे दिल तो है। मगर यह भी कैसे कहा जाए! देवता के दिल होता तो लाज-शरम भी होती, लाज-शरम होती तो आँखों की पलकें भी झँपती। लेकिन देवता है कि ताकता रहता है, पलके उसकी झँपती ही नही! एक क्षण के लिए उसने आँखे मूंदी कि अनर्थ हुआ! बहुत सावधान, सदा जाग्रत्।

अलबत्त, महादेव इन देवताओं से भिन्न थे। जहाँ आँखे झुकनी चाहिए, वहाँ उनकी आँखे झुकती थी, जहाँ टकटकी बँधनी चाहिए वहाँ बँध जाती थी। पार्वती जब वसनापुष्पो के आभरण से सजी हुई सचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उनके सामने आयी, तो उनके (पार्वती) विम्बफल के समान अधरोष्ठ वाले मोहक मुख पर उनकी टकटकी बँध गई। फिर उनकी आँखे झुकी भी। वे मनुष्य के समान विकारग्रस्त हुए। वे देवताओ मे मनुष्य थे—महादेव! उस दिन देवदारु चूक गया। वह सब देखता रहा। इतना बड़ा अनर्थ हो गया ओर आपने अवधूतपन का बाना नही छोडा। वह महावृक्ष नही बन सका 'देवदारु' बन गया। आँखे खोले रहना भी कोई तुक की बात है! महावृक्ष वनस्पति होते है, जिनमे भावुकता तो नही पर सार्थकता होती है, जो फूल तो नही देते पर फल देते है—'अपुष्पा फलवन्तो ये'। देवदारु चूक गया, 'वनस्पति' की मर्यादा से वचित रह गया।

तो क्या हुआ? यह सब मनुष्य की आत्म-केन्द्रित दृष्टि का प्रसाद है। देवदारु को इससे क्या लेना-देना! वह तो जैसा है वैसा बना हुआ है। तुम उसे वनस्पति कहो या देवता का काठ कहो। तुम्हें अच्छा लगता है तो अच्छा नाम

देते हो, बुरा लगता है तो बुरा नाम देते हो। नाम में क्या धरा है। मुमकिन है, इसका पुराना नाम देवतरु हो। देवता का तरु नहीं, देवता भी और तरु भी। देव होकर वह छंद है, तरु होकर अर्थ है। छद, समष्टिव्यापिनी जीवन-गति के समानान्तर चलनेवाले व्यष्टिगत-प्राणवेग का नाम है, अर्थ, समाज स्वीकृति-प्राप्त सकेत हुआ करता है।

जहाँ बैठकर लिख रहा हूँ वहाँ से ऊपर और नीचे पर्वत पृष्ठ पर देवदारु वृक्षो की सोपान-परम्परा-सी दीख रही है। कैसी मोहक शोभा है। वृक्ष और भी हैं, लोगो ने नाम भी बताए है, पर सब छिप गये है। दिखते हे, आकाश-चुम्बी देवदारु ऐसा लगता है कि ऊपर वाले देवदारु वृक्षो की फुनगी पर से लुढका दिया जाऊँ तो फुनगियो पर ही लोटता हुआ हजारो फीट नीचे तक जा सकता हूँ अनायास ! पर ऐसा लगता ही भर है। भगवान न करे कोई सचमुच लुढका दे। हड्डी पसली चूर हो जाएगी। जो कुछ लगता है वह सचमुच हो जाय तो अनर्थ हो जाय। लगने मे बहुत-सी बातें गलत लगती हैं। इसीलिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नही होना, कई बार अनर्थ होना है। अर्थ वास्तविकता हैं, वास्तविक जगत् की सचाई है, लगता है सो मन का विकल्प है, अन्तर्जगत् की स्पृहा मात्र है, छद है। दोनो मे कही ताल-तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नही मिलता, यह खेद की बात है। ताल-तुक मिलना अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन मे कुछ न कुछ लगता ही रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। 'अ-लग' अर्थात् जो न लगे। लगता हे पर नही लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई ? तुक की बात तब होती जब लगना 'अलग' लगना न होना है। इसीलिए कहता हूँ कि तुक अर्थ मे होना हे। जिसने इस पेड का नाम देवदारु दिया था उसे क्या लगा था, कह नही सकता। बात औरो को भी कमोबेश लगी होगी, तभी सबने मान लिया। जो सबको लगे सो अर्थ, एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ ! अलगाव को ही पुराने आचार्यो ने पृथक्त्व-बुद्धि का नाम दिया है। और भी समझा कर कहा हे कि यह अलगाव 'मै पन' है, 'अहकार' है। इधर कवि लोग है उन्हे कि हमेशा कुछ देखकर कुछ न कुछ लगता ही रहता है। खुले आम कहते है कि मुझे ऐसा लग रहा है। क्यो कहते हो बाबा कि 'मुझे' ऐसा लग रहा है। दुनिया की ओर भी देखो। वह तुम्हे पागल कहेगा। पागल को भी तो कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मगर दुनिया को देखता हूँ तो हैरत में पड़ जाता हूँ। कवि को जो कुछ लगता है उसका वाह-वाह कहके उसे सिर उठा लेती है। कुछ समझ में नही आता। 'हौं ही बौरी विरह बस कै बौरो सब गाँव'।

बिहारी अच्छे खासे कवि माने जाते हैं। उन्हीं की बात याद आ गयी थी। बात इतनी ही सी थी कि कोई विरह की मारी स्त्री कह रही है कि मैं ही पागल हो गयी हूँ या सारा गाँव ही पागल हो गया है ? क्या समझ कर ये लोग चाँद को ठडी किरनवाला कहते है—'कहाँ जाने ये कहत है ससिहि सीतकर नाँव' विरह की मारी महिला का दिमाग बिगड़ गया है, जो सबको ठडा लग रहा है, उसे वह दाहक मान रही है। पागलपन ही तो है। मगर जब बिहारी ने उसे दोहा छद मे बाँध दिया तो बात बिलकुल बदल गयी। हाय हाय, कैसी विरह-वेदना है कि उस सुकुमार बालिका को चाँद भी गरम मालूम पड़ता है। हृदय के भीतर जलनेवाली विरहाग्नि से उसे किसी काम का नही छोड़ा। हे भगवान्, तुम ऐसा कुछ नही कर सकते कि सारे गाँव के समान इस बालिका को भी चन्द्रमा उतना ही शीतल लगे जितना औरो को लगता है ! अर्थात् विरहिणी की दारुण-व्यथा अब सबके चित्त की सामान्य अनुभूति के साथ ताल मिलाकर चलने लगी। पागल का 'लगना' एक का लगना होता है, कवि का लगना सबको लगने लगना है। बात उलट कर कही जाय तो इस प्रकार होगी —जिसका लगना सबको लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे, औरो को नही, वह पागल है। लगने-लगने मे भी भेद है। जो सबको लगे, वह अर्थ है, जो एक को ही लगे, वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है।

मगर देवदारु नाम केवल नाम ही नही है। मैंने अपने गाँव के एक महान् भूत-भगवान् ओझा को देवदारु की लकड़ी से भूत भगाते देखा है। आजकल के शिक्षित लोग भूत मे विश्वास नहीं करते। वे भूत को मन का वहम मानते है। पर गाँव मे भूत लगते मैने देखा है। भूत भगाते भी देखा है। भूत भी लगता है। सब लगालगी वहम ही होती होगी। आँखों को भी। बिहारी जानते थे। कह गये है—'लगालगी लोयन करे, नाहक मन बँधि जाय।' नाहक अर्थात् बेमतलब, निरर्थक।

हमारे गाँव मे एक पडितजी थे। अपने को महाविद्वान् मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ मे वे बड़े-बडे दिग्गजो को हरा देते थे। विद्या के जोर से नहीं, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कड़े का हुआ तो दैहिक-बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार खासी गुत्थमगुत्थी हो गई। गाँव-जवार के लोगों को पडितजी की विद्या पर भरोसा नही था पर उनकी फचाफच वाणी और—भीमकाया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पंडितजी कभी हारे नहीं। कम लोग जानते है कि शास्त्रार्थ मे कोई हारता नही, हराया जाता है ! पडितजी के यजमान जमके उनके पीछे लाठी लेकर खड़े हो जाते थे तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पडितजी केवल

बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नहीं, आसपास के भूतों को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते थे। गायत्री का मन्त्र जो उनके मुँह से आल्हा जैसा सुनाई देता था और देवदारु की लकड़ी उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुज़र रहे थे, घोर अंधकार, भयकर सुनसान ! क्या देखते है कि आगे दनादन ढेले गिर रहे है। पंडितजी का अनुभवी मन तुरन्त ताड़ गया कि कुछ दाल में काला है। मनुष्य इतनी तेजी से ढेले नही फेंक सकता। पडितजी डरनेवाले नही थे, पीछे मुड़कर ललकारा—अरे केवन है। केवन अर्थात् कौन। पीछे मुड़कट्टा, घोड़े पर चढा चला आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प ! (यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए बता दूं कि एक बार मेने अपने गाँव मे भूतो के जाति-भेद की जाँच की थी। कुल तेईस क़िस्म के है। मुड़-कट्टा एक भूत ही है। मूंड़ नही है। छाती पर दो आँखे मशाल की तरह जलती रहती है। घोड़े पर चढकर चलता है) सो, पडितजी से उलझने की हिमाकत की इस तुरन्त मुडकट्टे ने। डरनेवाला कोई और होता है। पडितजी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ मे बाधक था। झमाझम गायत्री पढने लगे। देवदारु की लकडी मुट्ठी मे थी। दे रद्दे पर रद्दा। बिचारा मुड़कट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा। अबकी बार छोड़ दो पडितजी, पहचान नही सका था। अब फिर यह गलती नही होगी। आज से मै तुम्हारा ग़ुलाम हुआ। पडितजी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नही तो यह सारे गाव-जवार का कटक समाप्त हो गया होता। मैंने यह कहानी स्वय पडितजी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नही था फर्स्टहैंड इन्फर्मेशन था। उस दिन मेरे बालचित्त पर देवदारु की धाक जम गयी थी। अब भी क्या दूर हुई है।

आज देवदारु के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुड़कट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों मे जैसे मुड़कट्टे होते है, आदमियों मे भी कुछ होते है। मस्तक नाम की चीज उनके पास होती नही, मस्तक ही नही तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गई तो फूल की सम्भावना ही कहाँ रही—'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कृतः।' क्या इन मुड़कट्टों को देवदारु की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है ? करने का प्रयत्न ही कर रहा हूँ। पडितजी के पास तो फचपैंची गायत्री थी, वह कहाँ पाऊँ ?

मन की सारी भ्रान्ति को दूर करनेवाले देवदारु तुम्हे देखकर मन श्रद्धा से जो भर जाता है, वह अकारण नही है। तुम भूत भगवान हो, तुम वहम-मिटावन हो, तुम भ्रान्ति नसावन हो। तुम्हे दीर्घकाल से जानता था पर पहचानता नही था। अब पहचान भी रहा हूँ। तुम देवता के दुलारे हो, महादेव के प्यारे हो, तुम धन्य हो।

जानता हूँ कि बुद्धिमान लोग कहेंगे कि यह महज गप्प है। यह भी जानता हूँ कि कदाचित् अन्तिम विश्लेषण पर पंडितजी की कहानी 'पत्ता खड़का, बन्दा भड़का' से अधिक वज़नदार न साबित हो। सम्भावना तो यही तक है कि पत्ता भी न खड़का हो और पंडितजी ने आद्योपान्त पूरी कहानी बना ली हो। मगर बलिहारी है इस सर्जन शक्ति की। क्या शानदार कहानी रची है पंडितजी ने ! आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हमलोग ऐतिहासिक युग मे जीने का दावा करते है। पुराना मनुष्य 'मिथकीय युग' मे रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था, वहाँ मिथकीय तत्त्वों से काम लेता था। मिथक गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्त्वों से प्रभावित नहीं है ? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उसमे स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है। आश्चर्य होता है भाषा का मिथक अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते है, आवरणो की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचानने-वाले कला समीक्षक कहलाते है। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते है। भूत तो मरमों मे है। जो सत्य है, वह सर्जनाशक्ति के हिरण्य-पात्र मे मुँह बन्द किए ढँका ही रह जाता है। एक पर एक गप्पों की परतें जमती जा रही है। सारी चमक सीपी को चमक में चाँदी देखने की तरह मन का अभ्यासमात्र है। गप्प कहाँ नही है, क्या नही है ? मगर छोड़िए भी।

देवदारु भी सब एक से नही होते। मेरे बिल्कुल पास मे जो है, वह जरठ भी है, खूँसट भी। जरा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है। एक मोटे राम खड्ड के एक प्रान्त पर उगे है, आधे जमीन में, आधे अधर मे, आधा हिस्सा ठूँठ, आधा जगर-मगर. सारे कुनबे के पाधा जान पड़ते है ! एक अल्हड किशोर है, सदा हँसता-सा, कवि जैसा लगता है। जी करता है इसे प्यार किया जाए। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है। एक इतना कमनीय था कि बैल की ध्वजा वाले महादेव ने उसे अपना बेटा बना लिया था। पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था। कालिदास खुद कह गये है। मगर कुछ लोग ऐसे होते है कि उन्हे 'सवै धान बाईस पसेरी' दिखते है। वे लोग सबको एक ही जैसा देखते है। उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झबरैला, वह चपरगेगा, वह गदरौना, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झूमरैला, वह धोकरा, वह नट-

खटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी सब समान हैं। महादेवजी के प्यारे बेटे के कमनीय व्यक्तित्व को भी सब नहीं पहचान सकते थे। एक मदमत्त गजराज आये और अपने गण्डस्थल की खाज मिटाने के लिए उसी पर पिल पड़े। जड़ें हिल गईं, पत्ते झड़ गए, खाल छूट गयी और आप खाज मिटाते रहे। महादेव जी को बड़ा क्रोध आया। आना ही था। उन्होने उसकी रक्षा के लिए एक सिंह तैनात कर दिया। पर मेरे सामने जो अल्हड़ कवि है, इसका क्या होगा? वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नही। फिर भी डर तो लगता ही है। हाथी न सही गधो और खच्चरो से तो शहर भरा पड़ा है। लेकिन मै जिधर हूँ उधर वे भी कम ही आते है। गाहे-बगाहे आ भी जाते है पर उन्हे देवदारु की तरफ देखने की फुरसत नही होती। उन्हे देखने को और बहुत-सी चीज़े मिल जाती है। बहरहाल कोई खास चिन्ता की बात नही। इस देश के लोग पीढियों से सिर्फ जाति देखते आ रहे है, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है न परवाह है। सन्त लोग चिल्लाकर थक गये कि 'मोल करो तलवार को, पड़ा रहन दो म्यान' के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है। अर्थमात्र जाति है, छन्दमात्र, व्यक्ति है। अर्थ आसानी से पहचाना जा सकता है क्योंकि वह धरती पर चलता है, छन्द आसानी से पकड़ मे नही आता, वह आसमान मे उड़ा करता है।

बात यह है कि जब मै कहता हूँ कि देवदारु सुन्दर है तो सुननेवाले सुन्दर का एक सामान्य अर्थ ही लेते है। हजार तरह के सुन्दर पदार्थों में रहने वाला एक सामान्य सौन्दर्य-धर्म। सौन्दर्य का कौन-सा विशिष्ट रूप मेरे हृदय में उल्लास तरंगित कर रहा है यह बात बस, मै ही जानता हूँ। अगर मुझमे इस बात को कहने की शक्ति नही हुई तो यह गूंगे का गुड़ बनी रह जाएगी। जिसमे शक्ति होती है, वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है फिर भी शब्दो का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है, शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते है। कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छन्दों के सहारे, उपमान योजना के बल पर, ध्वनि-साम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ को समझ पाते हे? बिल्कुल नही। कोई बड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ ताल मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ मिल जाय उसे 'सहृदय' कहा जाता है। देवदारु की ऊर्ध्वा शिखा-शोभा मेरे हृदय मे एक विशेष उल्लास पैदा करती है। मेरे पास कवि कौशल नाम की चीज नही है। मै अपने विशिष्ट अनुभवों का साधारणीकरण नही कर पा रहा हूँ। कवि होता तो कर लेता। उप-मानों की छटा खड़ी कर देता, सहृदय के चित्त को अपने चित्त के ताल पर नृत्य कराने योग्य छन्द ढूंढ़ लेता, ध्वनियो की नियतसचारी समता का ऐसा समाँ

बाँधता कि सुननेवाले का मन-मयूर की भाँति नाच उठता, पर मेरे भाग्य में यह कुछ भी नही। केवल आँख फाड़कर देखता हूँ, पाषाण की कठोर छाती भेदकर देवदारु न जाने किस पाताल से अपना रस खीच रहा है और कम-ह्रस्व छाया का वितान तानता हुआ ऊर्ध्वलोक की ओर किसी अज्ञात निर्देशक के तर्जनी-सकेत की भाँति कुछ दिखा रहा है। यह इतनी उँगलियाँ क्या यो ही उठी हुई है ? कुछ बात है, अवश्य कुछ रहस्य है। भीतर ही भीतर अनुभव कर रहा हूँ पर बता सकूँ ऐसी भाषा कहाँ है। हाय, मैं असमर्थ हूँ, मूक हूँ ! मीमांसको का एक सम्प्रदाय मानता था कि शब्द का अर्थ वहाँ तक जाता है जहाँ तक वक्ता ले जाता है वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते है। ये लोग कहते है कि जब जैमिनि मुनि ने कहा था कि 'यत्पर: शब्द: म शब्दार्थ:' तो उनका यही मतलब था। मेरा रोम-रोम अनुभव कर रहा है कि मुनि की बात का ऐसा अर्थ नही होना चाहिए। कहाँ विवक्षा इतनी दूर तक ले जाती है ? 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके मैं जो कहना चाहता हूँ वह कहाँ प्रकट हो पा रहा है। कहना तो बहुत चाहता हूं, कोई, समझे भी तो नही शब्द उतना ही बता पाता है जितना लोग समझते है। वक्ता जो कहना चाहता है उतना कहाँ बता पाता हे वह ? दुनिया मे कवियो की जो कदर है वह इसीलिए है कि वे जो अनुभव करते है उसे श्रोता के चित्त मे प्रविष्ट भी करा सकते है। प्रेषण-धर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है। मै नही पहुँचा पाता हूँ उस अर्थ को जिसे मेरा मन अनुभव कर रहा है। क्योंकि मैं शब्दो और छन्दो का ऐसा अस्त्र नही बना पाता हूँ, जो मेरी अनुभूतियों को लेकर तीर की तरह श्रोता के हृदय मे चुभ जाये। अर्थ निश्चय ही वक्ता की इच्छा के अधीन नही है। वह सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसमे लय नही, सगीत नही, गति नही, वह स्थिर है। शब्दों के गतिशील आवेग से वह हिलता है, थरथराता है, नये-नये परिवेश मे सजता है और तब कही नया पैदा करता है। अर्थ में लय नही होता, वह लय के सहारे नया अर्थ देता है।

लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवा के झोंकों से जब हिलता है तो इसका आभिजात्य झूम उठता है। कालिदास ने इसी हिमालय के उस भाग की, जहाँ से भागीरथी के निर्झर झरते रहते है, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन की चर्चा की थी, उन्होंने शीतलता को भागीरथी के निर्झर सीकरों की देन कहा, सुगन्धि को आसपास के वृक्षों के पुष्पों के सपर्क की बदौलत घोषित किया, लेकिन मन्दी के लिए 'मुहु.कम्पित देवदारु' को उत्तरदायी ठहराया। देवदारु के बारम्बार कंपित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगान्तर की संचित अनुभूति ने ही मानो यही मस्ती प्रदान की है। जमाना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने

ही मैदान में जा बसे हैं और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदारु है कि नीचे नही उतरा, समझौते के रास्ते नही गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ मानो कह रहा हो मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ। तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम है, मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मो तें दुरैहौ कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहुं ऊँट की चोरी !' हजारो वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साथी दुर्लभ है।

18

कृष्ण

—राममनोहर लोहिया

कृष्ण की सभी चीजे दो है, दो माँ, दो बाप, दो नगर, दो प्रेमिकाएँ या यो कहिए अनेक। जो चीज ससारी अर्थ मे बाद की या स्वीकृत या सामाजिक है, वह असली मे भी श्रेष्ठ और प्रिय हो गयी है। यो कृष्ण देवकी-नन्दन भी है, लेकिन यशोदा-नन्दन अधिक। ऐसे लोग मिल सकते हे जो कृष्ण की असली माँ, पेट-माँ का नाम न जानते हो, लेकिन बाद वाली, दूध वाली यशोदा का नाम न जाननेवाला कोई निराला ही होगा। उसी तरह वसुदेव कुछ हारे हुए मे है, और नन्द को असली बाप से कुछ बढ कर ही रुतबा मिल गया है। द्वारका और मथुरा की होड करना कुछ ठीक नही, क्योकि भूगोल और इतिहास ने मथुरा का साथ दिया है। किंतु यदि कृष्ण की चले, तो द्वारका द्वारकाधीश, मथुरा और मथुरापति से अधिक प्रिय रहे। मथुरा से तो बाल-लीला और यौवन क्रीडा की दृष्टि से वृन्दावन और बरसाना वगैरह अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रेमिकाओ का प्रश्न जरा उलझा हुआ है। किसकी तुलना की जाए, रुक्मिणी और सत्यभामा की, राधा और रुक्मिणी की, या राधा और द्रौपदी की। प्रेमिका का अर्थ सकुचित न कर सखा-सखी भाव को ले के चलना होगा। अब तो मीरा ने भी होड लगानी शुरू की है। जो हो, अभी तो राधा ही बडभागिनी है कि तीन लोक का स्वामी उसके चरणो का दास है। समय का फेर और महाकाल शायद द्रौपदी या मीरा को राधा की जगह तक पहुँचाये, लेकिन इतना सम्भव नही लगता। हर हालत मे, रुक्मिणी राधा से टक्कर कभी नही ले सकेगी।

मनुष्य की शारीरिक सीमा उसका चमडा और नख है। यह शारीरिक सीमा, उसे अपना दोस्त, एक माँ, एक बाप, एक दर्शन वगैरह देती रहती है, किंतु मनुष्य हमेशा इस सीमा से बाहर उछलने की कोशिश करता रहता है, मन ही के द्वारा उछल सकता हे। कृष्ण उसी तत्त्व और महान प्रेम का नाम है जो मन को प्रदत्त-सीमाओ से उलाँघता-उलाँघता सबमे मिला देता है,

किसी से भी अलग नहीं रखता। क्योंकि कृष्ण तो घटनाक्रमों वाली मनुष्य लीला है, केवल सिद्धान्तों और तत्त्वो का विवेचन नही, इसलिए उसकी सभी चीजे अपनी और एक की सीमा मे न रह कर दो और निरापनी हो गयी है। यों दोनों में ही कृष्ण का तो निरापना है, किंतु लीला के तौर पर अपनी माँ, बीवी और नगरी मे परायी बढ गयी है। परायी को अपनी से बढने देना भी तो एक मानी मे अपनेपन को खत्म करना है। मथुरा का एकाधिपत्य खत्म करती है द्वारका, लेकिन उस क्रम मे द्वारका अपना श्रेष्ठत्व जैसा क़ायम कर लेती है।

भारतीय साहित्य मे माँ है यशोदा और लला है कृष्ण ! माँ-लाल का इनसे बढ़ कर मुझे तो कोई सम्बन्ध मालूम नही, किंतु श्रेष्ठत्व भर ही तो क़ायम होता है। मथुरा हटती नही और न रुक्मिणी, जो मगध मे जरासध से लेकर शिशुपाल होती हुई हस्तिनापुर के द्रौपदी और पाच पाण्डवो तक एक-रूपता बनाये रखती है। परकीया स्वकीया से बढ कर उसे खतम तो करता नहीं, केवल अपने और पराये की दीवारों को ढहा देता है। लोभ, मोह, ईर्ष्या भय' इत्यादि की चहारदीवारी से अपना या स्वकीय छुटकारा पा जाना है। सब अपना और अपना सब हो जाता है। बडी रसीली लीला है कृष्ण की, इस राधा-कृष्ण या द्रोपदी, सखा और रुक्मिणी-रमण की कही चर्म सीमित शरीर मे, प्रेमानन्द और खून की गर्मी और तेजी मे, कमी नही। लेकिन यह सब रहते हुए भी कैसा निरापना !

कृष्ण है कौन ? गिरधारी, गिरधर, गोपाल ! वैसे तो मुरलीधर और चक्रधर भी है, लेकिन कृष्ण का गुह्यतम रूप तो गिरधर गोपाल मे ही निखरता है। कान्हा को गोवर्धन पर्वत अपनी कानी ऊँगली पर क्यो उठाना पडा था। इसलिए न कि उसने इन्द्र की पूजा बन्द करवा दी और इन्द्र का भाग खुद खा गया, और भी खाता रहा। इन्द्र ने नाराज होकर पानी, ओला, पत्थर बरसाना शुरू किया। तभी तो कृष्ण को गोवर्धन उठाकर अपने गो और गोपालो की रक्षा करनी पडी। कृष्ण ने इन्द्र का भोग खुद क्यो खाना चाहा ? यशोदा और कृष्ण का इस सबध मे गुह्य विवाद है। माँ, इन्द्र को भाग लगाना चाहती है, क्योकि वह बड़ा देवता हे, सिर्फ वास से ही तृप्त हो जाता है, और उसकी बड़ी शक्ति है, प्रसन्न होने पर बहुत वर देता है और नाराज होने पर तकलीफ़। बेटा कहता है कि वह इन्द्र से भी बड़ा देवता है, क्योकि वह तो वास से तृप्त नही होता और बहुत खा सकता है और उसके खाने की कोई सीमा नही। यही है कृष्ण लीला का गुह्य-रहस्य। वास लेने-वाले देवताओ से खानेवाले देवताओ तक की भारत-यात्रा ही कृष्ण लीला है।

कृष्ण के पहले, भारतीय देव, आसमान के देवता हैं। निस्सन्देह, अवतार कृष्ण के पहले से शुरू हो गये। किन्तु त्रेता का राम ऐसा मनुष्य है जो निरन्तर देव बनने की कोशिश करता रहा। इसलिए उसमें आसमान के देवता का अंश कुछ अधिक है। द्वापर का कृष्ण एक-सा देव है, जो निरन्तर मनुष्य बनने की कोशिश करता रहा। उसमें उसे सम्पूर्ण सफलता मिली। कृष्ण सम्पूर्ण और अबोध मनुष्य है, खूब खाया-खिलाया, खूब प्यार किया और प्यार सिखाया, जनगण की रक्षा की और उसका रास्ता बताया, निर्लिप्त भोगी, महान त्यागी और योगी बना।

इस प्रसंग में यह प्रश्न बेमतलब है कि मनुष्य के लिए, विशेषकर राजकीय मनुष्य के लिए, राम का रास्ता सुकर और उचित है या कृष्ण का। मतलब की बात तो यह है कि कृष्ण देव होता हुआ निरन्तर मनुष्य बनता रहा। देव और निःस्व और असीमित होने के नाते कृष्ण में जो असम्भव मनुष्यताएँ है, जैसे झूठ, धोखा और हत्या, उनकी नक़ल करनेवाले लोग मूर्ख हैं, उसमें कृष्ण का क्या दोष। कृष्ण की सम्भव और पूर्ण मनुष्यताओं पर ध्यान देना ही उचित है, और एकाग्र ध्यान। कृष्ण ने इन्द्र को हराया वास लेने वाले देवों को भगाया, खाने वाले देवों को प्रतिष्ठित किया, हाड़, खून, मांस वाले मनुष्य को देव बनाया, जनगण में भावना जागृत की कि देव को आसमान में मत खोजो, यहीं अपने बीच, पृथ्वी पर। पृथ्वी वाला देव खाता है, प्यार करता है, फिर रक्षा करता है।

कृष्ण जो कुछ करता था, जम कर करता था, खाता था जम कर, प्यार करता था जम कर, रक्षा भी जम कर करता था, पूर्ण भोग, पूर्ण प्यार, पूर्ण रक्षा। कृष्ण की सभी क्रियाएँ उसकी शक्ति के पूरे इस्तेमाल से ओत-प्रोत रहती थी, शक्ति का कोई अंश बचा कर नहीं रखता था। कंजूस बिलकुल नहीं था, ऐसा दिलफेंक, ऐसा शरीरफेंक, चाहे मनुष्यों में सम्भव न हो, लेकिन मनुष्य ही हो सकता है, मनुष्य का आदर्श, चाहे जिसके पहुँचने तक हमेशा एक सीढ़ी पहले रुक जाना पड़ता हो। कृष्ण ने खुद गीत गाया है स्थितिप्रज्ञ का, ऐसे मनुष्य का जो अपनी शक्ति का पूरा और जम कर इस्तेमाल करता हो, कूर्मागानीव' ने बताया है ऐसे मनुष्य को। कछुए की तरह यह मनुष्य अपने अंगों को बटोरता है, अपनी इन्द्रियों पर इतना सम्पूर्ण प्रभुत्व है इसको इन्द्रियों से उन्हें पूरी तरह हटा लेता है। कुछ लोग कहेंगे कि यह तो भोग उल्टा हुआ। ऐसी बात नहीं। जो करना, जम कर—भोग भी, त्याग भी। जमा हुआ भोगी कृष्ण, जमा हुआ योगी तो था ही। शायद दोनों में विशेष अन्तर नहीं। फिर भी, कृष्ण ने एकाग्री परिभाषा दी, अचल स्थितप्रज्ञ की, चलस्थितप्रज्ञ की नहीं। उसकी परिभाषा तो दी जो इन्द्रियों से इन्द्रियों को हटाकर

पूर्ण प्रभुता निखारता हो, उसकी नही; जो इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों मे लपेट कर, घोल कर। कृष्ण खुद तो दोनों था, परिभाषा मे एकांगी रह गया। जो काम जिस समय कृष्ण करता था, उसमे अपने समग्र अगो का एकाग्र प्रयोग करता था, अपने लिए कुछ भी नही बचाता था, अपना तो था ही नही कुछ उसमे। 'कूर्मांगानीव' के साथ-साथ 'समग्र-अग-एकाग्री' भी परिभाषा मे शामिल होना चाहिए था। जो काम करो, जम कर करो, अपना पूरा मन और शरीर उसमे फेक कर। देवता बनने की कोशिश मे मनुष्य कुछ कृपण हो गया है पूर्ण आत्मसमर्पण वह कुछ भूल-सा गया है। जरूरी नही है कि वह अपने आपको किसी दूसरे के समर्पण करे। अपने ही कामो मे पूरा आत्मसमर्पण करे। झाड़ू लगाये तो जम कर या अपनी इन्द्रियो का पूरा प्रयोग कर, युद्ध मे रथ चलाये तो जम कर, श्यामा मालिन बनकर राधा को फूल बेचने जाये तो जम कर। जीवन का दर्शन ढूँढे और गाये तो जम कर। कृष्ण ललकारता है मनुष्य को अकृपण बनने के लिए, अपनी शक्ति को पूरी तरह एकाग्र उछालने के लिए। मनुष्य करता कुछ है और ध्यान कुछ दूसरी तरफ रहता है। झाड़ू देता है, फिर भी कूडा कोनो मे पडा रहता है। एकाग्र ध्यान न हो तो एक इन्द्रियो का अकृपण प्रयोग कैसे हो। 'कूर्मांगानीव' और 'समग्र-अग-एकाग्री' मनुष्य को बनाना है। यहाँ तो देवता को मनुष्य बनने की कोशिश है। देखो, माँ इन्द्र खाली दाम लेता है, मै तो खाता हूँ।

आसमान के देवताओ को जो भगाये, उसे बडे पराक्रम और तकलीफ के लिए तैयार रहना चाहिए, तभी कृष्ण को पूरा गोवर्धन पर्वत अपनी छोटी उँगली पर उठाना पडा। इन्द्र को वह नाराज कर देता और अपनी गउओ की रक्षा न करता, तो ऐसा कृष्ण किस काम का। फिर कृष्ण के रक्षा-युग का आरभ होनेवाला था। एक तरह से बाल और युवा-लीला का शेष ही गिरिधर-लीला है। कालिय-दहन और कस-वध उसके आस-पास के है। गोवर्धन उठाने मे कृष्ण की उँगली दुखी होगी, अपने गोपो और सखाओ को कुछ झुँझला कर सहारा देने को कहा होगा। माँ को कुछ इतरा कर उँगली दुखने की शिकायत की होगी। गोपियो से आँख लडाते हुए अपनी मुस्कान द्वारा कहा होगा। उसके पराक्रम पर अचरज करने के लिए राधा और कृष्ण की तो आपस में गम्भीर और प्रफुल्लित मुद्रा रही होगी। कहना कठिन है कि किसकी ओर कृष्ण ने अधिक निहारा होगा, माँ की ओर इतरा कर, या राधा की ओर प्रफुल्ल होकर। उंगली बेचारे की दुख रही थी। अब तक दुख रही है, गोवर्धन मे तो यही लगता है। वही पर मानस गगा है। जब कृष्ण कृष्ण ने गऊ वश रूपी दानव को मारा था, राधा बिगड़ पड़ी और इस पाप से बचने के लिए उसने उसी स्थल पर कृष्ण से गंगा माँगी। बेचारे कृष्ण को

कौन-कौन से असंभव काम करने पड़े हैं। हर समय वह कुछ न कुछ करता रहा है दूसरों को सुखी बनाने के लिए। उसकी उँगली दूख रही है। चलो, उसको सहारा दें। गोवर्धन में सड़क चलते कुछ लोगों ने, जिसमें पंडे होते ही हैं, प्रश्न किया कि मैं कहाँ का हूँ ?

मैंने छेड़ते हुए उत्तर दिया, राम की अयोध्या का।

पंडों ने जवाब दिया, सब माया एक है।

जब मेरी छेड़ चलती रही तो एक ने कहा कि आखिर सत्तू वाले राम से गोवर्धन-वासियो का नेह कैसे चल सकता है। उनका दिल तो माखन-मिसरी वाले दिल से लगा है।

माखन-मिसरी वाला कृष्ण, सत्तू वाला राम कुछ सही है, पर उसकी अपनी उँगली अब तक दूख रही है।

एक बार मथुरा में सड़क में चलते एक पंडे से मेरी बातचीत हुई। पंडों की साधारण कसौटी में उस बातचीत का कोई नतीजा न निकला, न निकलने वाला था। लेकिन क्या मीठी मुस्कान से उस पंडे ने कहा कि जीवन में दो मीठी बातें ही तो सब कुछ हैं। कृष्ण मीठी बात करना सीख गया है, आसमान वाले देवताओं को भगा गया है, माखन-मिसरी वाले देवों की प्रतिष्ठा कर गया है। लेकिन, उसका अपना कौन-कौन-सा अंग अब तक दूख रहा है ?

कृष्ण की तरह एक और देवता हो गया है, जिसने मनुष्य बनने की कोशिश की। उसका राज्य संसार में अधिक फैला, शायद इसलिए कि वह ग़रीब बढ़ई का बेटा था और उसकी अपनी ज़िन्दगी में वैभव और ऐश न था शायद इसलिए कि जन-रक्षा का उसका अन्तिम काम ऐसा था कि उसकी उंगली सिर्फ़ न दूखी, उसके शरीर का रोम-रोम सिहरा और अग-अंग टूट कर वह मरा। अब तक लोग उसका ध्यान करके अपने सीमा बाँधने वाले चमड़े के बाहर उछलते हैं। हो सकता है कि ईसूमसीह दुनिया में केवल इसलिए फैल गया है कि उसका विरोध उन रोमियों से था जो आज की मालिक सभ्यता के पुरखे हैं। ईसू रोमियों पर चढ़ा। रोमी आज के यूरोपियों पर चढ़े। शायद एक कारण यह भी हो कि कृष्ण-लीला का मज़ा ब्रज और भारत-भूमि के कण-कण से इतना लिपटा है कि कृष्ण की निर्यात कठिन है। जो भी हो, कृष्ण और क्रिस्टोस दोनों ने आसमान में देवताओं को भगाया। दोनों के नाम और कहानी में भी कहीं-कहीं सादृश्य है। कभी दो महाजनों की तुलना नहीं करनी चाहिए। दोनों अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं : फिर भी, क्रिस्टोस प्रेम के आत्मोत्सर्गी अंग के लिए बेजोड़ और कृष्ण सम्पूर्ण मनुष्य-लीला के लिए। कभी कृष्ण के वंशज भारतीय शक्तिशाली बनेंगे, तो संभव है उसकी लीला दुनिया भर में रस फैलाए।

कृष्ण बहुत अधिक हिन्दुस्तान के साथ जुड़ा हुआ है। हिन्दुस्तान के ज्यादातर देव और अवतार अपनी मिट्टी के साथ सने हुए है। मिट्टी से अलग करने पर वे बहुत कुछ निष्प्राण हो जाते है। त्रेता का राम हिन्दुस्तान की उत्तर-दक्षिण एकता का देव है। द्वापर का कृष्ण देश की पूर्व-पश्चिम एकता का देव है। राम उत्तर-दक्षिण और कृष्ण पूर्व-पश्चिम धुरी पर घूमे। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि देश को उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम एक करना ही राम और कृष्ण का धर्म था। 'यों सभी धर्मों की उत्पत्ति राजनीति से है, बिखरे हुए स्वजनों को इकट्ठा करना, कलह मिटाना, सुलह कराना और हो सके तो अपने और सबकी सीमा को ढहाना। साथ-साथ जीवन को ऊँचा उठाना, सदाचार की दृष्टि से और आत्म-चिन्तन की भी।

देश की एकता और समाज के शुद्धि सम्बन्धी कारणों और आवश्यकताओं से संसार के सभी महान् धर्मो से संसार के सभी महान् धर्मो की उत्पत्ति हुई है। 'अलबत्ता' धर्म इन आवश्यकताओं से ऊपर उठकर मनुष्य को पूर्ण करने की भी चेष्टा करता है। किन्तु भारतीय धर्म इन आवश्यकताओं में जितना ओत-प्रोत है, उतना और कोई धर्म नही। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि राम और कृष्ण के क़िस्से तो मनगढ़न्त गाथाएँ है, जिनसे एक अद्वितीय उद्देश्य हासिल करना था, इतने बड़े देश के उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम को एकरूपता में बाँधना था। इस विलक्षण उद्देश्य के अनुरूप ही ये विलक्षण क़िस्से बने। मेरा मतलब यह नही कि सब के सब क़िस्से झूठे है। गोवर्धन पर्वत का किस्सा जिस रूप मे प्रचलित है उस रूप में झूठा तो है ही, साथ-साथ न जाने कितने और किस्से, जो कितने और आदमियों के रहे हों एक कृष्ण अथवा राम के साथ जुड़ गये है। जोड़ने वालों को कमाल हासिल हुआ। यह भी हो सकता है कि कोई न कोई चामत्कारिक पुरुष राम और कृष्ण के नाम के हुए हों। चमत्कार भी उनका संसार के इतिहास में अनहोना रहा हो। लेकिन उन गाथाकारों का यह कम अनहोना चमत्कार नही है, जिन्होने राम और कृष्ण के जीवन की घटनाओं को इस सिलसिले और तफसील मे बाँधा है कि इतिहास भी उसके सामने लजा गया है। आज के हिन्दुस्तानी, राम और कृष्ण की गाथाओं की एक-एक तफ़सील को चाव से और सप्रमाण जानते हैं, जब कि ऐतिहासिक बुद्ध और अशोक उनके लिए धुँधली स्मृति मात्र रह गये है।

महाभारत हिन्दुस्तान की पूर्व-पश्चिम यात्रा है, जिस तरह रामायण उत्तर-दक्षिण यात्रा है। पूर्व-पश्चिम यात्रा का नायक कृष्ण है, जिस तरह उत्तर-पश्चिम यात्रा का नायक राम है—मणिपुर से द्वारिका तक कृष्ण या उसके सहचरों का पराक्रम हुआ है, जैसे जनकपुर से श्रीलंका तक राम

या उसके सहचरों का। राम का काम अपेक्षाकृत सहज था। कम से कम उस काम में एकरसता अधिक थी। राम का मुक़ाबला या दोस्ती हुई भील, किरात, किन्नर, राक्षस इत्यादि से, जो उसकी अपनी सभ्यता से अलग थे। राम का काम था इनको अपने में शामिल करना और उनको अपनी सभ्यता में ढाल देना चाहे हराये बिना या हराने के बाद।

कृष्ण को वास्ता पड़ा अपने ही लोगों से, एक ही सभ्यता के दो अंगो में से एक को लेकर भारत की पूर्व-पश्चिम एकता कृष्ण को स्थापित करनी पड़ी। इस काम में पेच ज्यादा थे। तरह-तरह की सन्धि और विग्रह का क्रम चला। न जाने कितनी चालाकियाँ और धूर्तताएँ भी हुईं। राजनीति का निचोड़ भी सामने आया—ऐसा छन कर जैसा फिर और कुछ न हुआ। अनेको ऊँचाइयाँ भी छुई गयी। दिलचस्प किस्से भी खूब हुए। जैसी पूर्व-पश्चिम राजनीति जटिल थी, वैसे ही मनुष्यों के आपसी सम्बन्ध भी, खास कर मर्द-औरत के। अर्जुन की मनीपुर वाली चित्रांगदा, भीम की हिडिम्बा और पांचाली का तो कहना ही क्या। कृष्ण की बुआ कुन्ती का एक बेटा था अर्जुन, दूसरा कर्ण, दोनों अलग-अलग बापों से, और कृष्ण ने अर्जुन को कर्ण का छल-बध करने के लिए उकसाया। फिर भी, क्यों जीवन का निचोड छन कर आया। क्योंकि कृष्ण जैसा निःस्व मनुष्य न कभी हुआ और उससे बढ़कर तो कभी होना ही असम्भव है। राम उत्तर-दक्षिण एकता का न सिर्फ़ नायक बना, राजा भी हुआ। कृष्ण तो अपनी मुरली बजाता रहा। महाभारत की नायिका द्रौपदी से महाभारत के नायक कृष्ण ने कभी कुछ लिया नही, दिया ही।

पूर्व-पश्चिम एकता की दो धुरियाँ स्पष्ट ही कृष्ण-काल में थी। एक पटना-गया की मगध-धुरी और दूसरी हस्तिनापुर इन्द्रप्रस्थ की कुरु-धुरी। मगध-धुरी का भी फैलाव स्वय कृष्ण की मथुरा तक था, जहाँ मगध-नरेश जरासध का दामाद कस राज्य करता था। बीच मे शिशुपाल आदि मगध के आश्रित मित्र थे। मगध-धुरी के खिलाफ़ कुरु-धुरी का सशक्त निर्माता कृष्ण था। कितना बडा फैलाव किया कृष्ण ने इस धुरि का। मणिपुर से लेकर पश्चिम में द्वारका तक का इस कुरु-धुरी मे समावेश किया। देश की दोनों सीमाओं, पूर्व की पहाड़ी सीमा और पश्चिम की समुद्री सीमा को फाँसा और बाँधा, इस धुरी को क़ायम और शक्तिशाली करने के लिए कृष्ण को कितनी मेहनत और कितने पराक्रम करने पड़े, और कितनी लम्बी सूझ सोचनी पड़ी। उसने पहला वार अपने ही घर मथुरा में मगध राज के दामाद पर किया। उस समय सारे हिन्दुस्तान में यह वार गूँजा होगा। कृष्ण की यह पहली ललकार थी, वाणी द्वारा नहीं। उसने कर्म द्वारा रण-भेरी बजायी।

कौन अनसुनी कर सकता था ? सबको निमन्त्रण हो गया, यह सोचने के लिए कि मगध राजा को अथवा जिसे कृष्ण कहे, उसे सम्राट के रूप में चुनें, अन्तिम चुनाव भी कृष्ण ने बड़े छबी रूप में रखा। कुरु-वंश में ही न्याय-अन्याय के आधार पर दो टुकड़े हुए और उनमें अन्यायी टुकड़ी के साथ मगध-धुरी को जुड़वा दिया। संसार ने सोचा होगा कि वह तो कुरुवंश का अन्दरूनी और आपसी झगड़ा है। कृष्ण जानता था कि वह तो इन्द्रप्रस्थ-हस्तिनापुर की कुरु-धुरी और राजगिरि की मगध-धुरी का झगड़ा है।

राजगिरि का राज्य कंस-वध पर तिलमिला उठा होगा। कृष्ण ने पहले ही वार मे मगध की पश्चिमी ताक़त को ख़तम-सा कर दिया। लेकिन अभी तो ताक़त बहुत ज्यादा बटोरनी और बढ़ानी थी। यह तो सिर्फ़ आरम्भ था। आरम्भ अच्छा हुआ। सारे संसार को मालूम हो गया। लेकिन कृष्ण कोई बुद्धू थोड़े ही था जो आरम्भ की लड़ाई को अन्त की बना देता। उसके पास अभी इतनी ताकत तो थी नहीं जो कंस के ससुर और उसकी पूरे हिन्दुस्तान की शक्ति से जूझ बैठता। वार करके, ससार को डंका सुना के कृष्ण भाग गया। भागा भी बड़ी दूर, द्वारिका में। तभी से उनका नाम रणछोड़दास पड़ा। गुजरात में आज भी हजारों लोग, शायद एक लाख से अधिक लोग होंगे—जिनका नाम रणछोड़दास है। पहले मैं इस नाम पर हँसा करता था, मुस्कान तो कभी न छोड़ूँगा। यों, हिन्दुस्तान मे और भी देवता हैं, जिन्होंने अपना पराक्रम भाग कर दिखाया जैसे ज्ञानवापी के शिव ने। यह पुराना देश है। लड़ते-लड़ते थकी हड्डियों को भागने का अवसर मिलना चाहिए। लेकिन कृष्ण थकी पिण्डियों के कारण भाग न सका नही भागा। वह भागा जवानी की बढ़ती हड्डियों के कारण। अभी हड्डियों को बढ़ने और फैलाने का मौक़ा चाहिए था। कृष्ण की पहली लड़ाई तो आजकल की छापामार लड़ाई की तरह थी, वार करो और भागो। अफ़सोस यह ही है कि कुछ भक्त लोग भागने ही में मज़ा लेते हैं।

द्वारिका मथुरा से सीधे फ़ासले पर क़रीब सात सौ मील है। वर्तमान सड़कों की यदि दूरी नापी जाए तो क़रीब 1050 मील होती हैं। बिचली दूरी इस तरह क़रीब 850 मील होती है। कृष्ण अपने शत्रु से बड़ी दूर तो निकल ही गया, साथ ही साथ देश की पूर्व-पश्चिम एकता हासिल करने के लिए उसने पश्चिम के आखरी नाके को बाँध लिया। बाद में पाँचो पाण्डवों के वनवास युग मे अर्जुन की चित्रांगदा और भीम की हिडिम्बा के जरिये उसने पूर्व के आखिरी नाके को भी बांधा। इन फ़ासलों को नापने के लिए मथुरा से अयोध्या, अयोध्या से ताजमहल और राजमहल से इम्फाल की दूरी जानना ज़रूरी है। यही रहे होंगे उस समय के महान् राजमार्ग। मथुरा से अयोध्या

की बिचली दूरी क़रीब तीन सौ मील है। अयोध्या से राजमहल क़रीब चार सौ सत्तर मील है। राजमहल से इम्फाल की यह बिचली दूरी क़रीब सवा पाँच सौ मील है। यो वर्तमान सड़कों से फ़ासला क़रीब आठ सौ पचास मील और सीधा फ़ासला क़रीब तीन सौ अस्सी मील है। इस तरह मथुरा से इम्फाल का फासला उस समय के राजमार्ग द्वारा क़रीब सोलह सौ मील रहा होगा। कुरु-धुरी के केन्द्र पर कब्जा करने और उसे सशक्त बनाने के पहले कृष्ण केन्द्र मे आठ सौ मील दूर भागा। और अपने सहचरो और चेलो को उसने सोलह सौ मील दूर तक घुमाया। पूर्व-पश्चिम की पूरी भारत यात्रा हो गयी। उस समय की भारतीय राजनीति को समझने के लिए कुछ दूरियाँ और जानना ज़रूरी है। मथुरा से बनारस का फ़ासला क़रीब तीन सौ सत्तर मील और मथुरा से पटना क़रीब पाँच सौ मील है। दिल्ली से, जो तब इन्द्रप्रस्थ थी, मथुरा का फ़ासला क़रीब नब्बे मील है। पटने से कलकत्ते का फ़ासला करीब सवा तीन सौ मील है। कलकत्ते के फ़ासले का कोई विशेष तात्पर्य नही, सिर्फ़ इतना ही कि कलकत्ता भी कुछ समय तक हिन्दुस्तान की राजधानी रही है। चाहे गुलाम हिन्दुस्तान की। मगध-धुरी का पुनर्जन्म एक अर्थ मे कलकत्ते मे हुआ। जिस तरह कृष्णकालीन मगध-धुरी के लिए राजगिरि केन्द्र है, उसी तरह ऐतिहासिक मगध-धुरी के लिये पटना या पाटलिपुत्र केन्द्र है और इन दोनों का फासला क़रीब चालीस मील है। पटना-राजगिरि केन्द्र का पुनर्जन्म कलकत्ते मे होता है, इसका इतिहास के विद्यार्थी अध्ययन करे, चाहे अध्ययन करते समय सन्तापपूर्ण विवेचन करे कि यह काम विदेशी तत्त्वावधान मे क्यों हुआ।

कृष्ण ने मगध-धुरी का नाश करके कुरु-धुरी की क्यो प्रतिष्ठा करनी चाही? इसका एक उत्तर तो साफ है। भारतीय जनगण का बाहुल्य उस समय उत्तर और पश्चिम म था, जो राजगिरि और पटना से बहुत दूर पड़ जाता था। उसके अलावा मगध-धुरी कुछ पुरानी बन चुकी थी, शक्तिशाली थी, किन्तु उसका फैलाव सकुचित था। कुरु-धुरी नदी थी, और कृष्ण इसकी शक्ति और फैलाव दोनों का ही सर्वशक्तिसम्पन्न निर्माता था, मगध-धुरी को जिस तरह चाहता शायद न मोड़ सकता। कुरु-धुरी को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ और फैला सकता था। सारे देश को बाँधना जो था उसे। कृष्ण त्रिकालदर्शी था। उसने देख लिया होगा कि उत्तर-पश्चिम मे आगे चल कर यूनानियों, हूणो, पठानो मुग़लों आदि के आक्रमण होगे। इसलिए भारतीय एकता की धुरी का केन्द्र कही वही रखना चाहिए, जो इन आक्रमणों का मुक़ाबला कर सके। लेकिन त्रिकालदर्शी क्यों न देख पाया कि इन विदेशी आक्रमणो के पहले ही मगध-धुरी बदला चुकाएगी और सैकड़ों वर्ष तक भारत पर अपना प्रभुत्व क़ायम करेगी और आक्रमण के समय तक,

कृष्ण की भूमि के नज़दीक यानी कन्नौज और उज्जैन तक खिसक चुकी होगी, किन्तु अशक्त अवस्था में। त्रिकालदर्शी ने देखा शायद यह सब कुछ हो, लेकिन कुछ न कर सका हो।• वह हमेशा के लिए अपने देशवासियों को कैसे ज्ञानी और साधु दोनों बनाता। वह तो केवल रास्ता दिखा सकता था। रास्ते में भी शायद त्रुटि थी। त्रिकालदर्शी को यह भी देखना चाहिए कि उसके रास्ते पर ज्ञानी ही नहीं, अनाड़ी भी चलेंगे और वे कितना भारी नुक़सान उठायेंगे। राम के रास्ते चल कर अनाड़ी का भी अधिक नहीं बिगड़ता, चाहे बनना भी कम होता हो। अनाड़ी ने कुरु-पांचाल संधि का क्या किया ?

कुरु-धुरी का आधार-शिला थी कुरुपांचाल-सधि। आसपास के इन दोनों इलाक़ों का वज्र समान एकता क़ायम करना था सो कृष्ण ने उन लीलाओं के द्वारा की, जिनसे पांचाली का विवाह पाँचों पाण्डवों से हो गया। यह पांचाली भी अद्‌भुत नारी थी। द्रौपदी से बढ़कर भारत की कोई प्रखरमुखी और ज्ञानी नारी नही। कैसे कुरु सभा को उत्तर देने के लिए ललकारती है कि जो आदमी अपने को हार चुका है क्या दूसरे को दाँव पर रखने की उसमे स्वतंत्र सत्ता है ?

पाँचो पाण्डव और अर्जुन भी उसके सामने फीके थे। यह कृष्णा तो कृष्ण के ही लायक थी। महाभारत का नायक कृष्ण, नायिका कृष्णा। कृष्णा और कृष्ण का सम्बन्ध भी विश्व-साहित्य मे बेमिसाल है। दोनों सखा-सखी ही क्यों रहे। कभी कुछ और दोनों में से किसी ने होना चाहा ? क्या सखा-सखी का सम्बन्ध पूर्णरूप से मन की देन थी या उसमें कुरु-धुरी के निर्माण और फैलाव का अश था ? जो हो, कृष्ण और कृष्णा का यह सम्बन्ध राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से कम नहीं, लेकिन साहित्यिकों और भक्तों की नज़र इस ओर कम पड़ी है। हो सकता है कि भारत की पूर्व-पश्चिम एकता के इस निर्माता को अपनी ही सीख के अनुसार केवल कर्म, न कि कर्मफल का अधिकारी होना पड़ा, शायद इसलिए कि यदि वह स्वयं कर्मफल-हेतु बन जाता, तो इतना अनहोना निर्माता हो ही नहीं सकता था। उसने कभी लालच न की कि अपनी मथुरा को ही धुरी-केन्द्र बनाए उसके लिए दूसरी का इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर ही अच्छा रहा। इसी तरह कृष्णा को भी सखी रूप में रखा, जिसे संसार अपनी कहता है, वैसी न बनाया। कौन जाने कृष्ण के लिए यह सहज था या इसमें भी उसका दिल दुखी था।

कृष्णा अपने नाम के अनुरूप साँवली थी, महान सुन्दरी रही होगी। उसकी बुद्धि का तेज, उसकी चकित हरिणी आँखों में चमकता रहा होगा। गोरी की अपेक्षा सुन्दर साँवली, नखशिख और अंग में अधिक सुडौल होती

है। राधा गोरी रही होगी। बालक और युवक कृष्ण राधा में एकरस रहा। प्रौढ़ कृष्ण के मन पर कृष्णा छायी रही होगी, राधा और कृष्ण तो एक थे ही। कृष्ण की सताने कब तक उसकी भूल•दोहराती रहेगी—बेखबर जवानी मे गोरी से उलझना और अधेड अवस्था मे श्यामा को निहारना। कृष्ण-कृष्णा सम्बन्ध मे और कुछ हो न हो, भारतीय मर्दो को श्यामा की तुलना मे गोरी के प्रति अपने पक्षपात पर मनन करना चाहिए।

रामायण की नायिका गोरी है। महाभारत की नायिका कृष्णा है। गोरी की अपेक्षा साँवली अधिक सजीव है। जो भी हो, इमी कृष्ण-कृष्णा सम्बन्ध का अनाडी हाथो फिर पुनर्जन्म हुआ। न रहा उसमे कर्मफल और कर्मफल-हेतु-त्याग। कृष्णा पाचालचारी कन्नौज के इलाके की थी, सयुक्ता भी। धुरी—केन्द्र इन्द्रप्रस्थ का अनाडी राजा पृथ्वीराज अपने पुरखे कृष्ण के रास्ते न चल सका। जिस पाचाली द्रौपदी के जरिये कुरु-धुरि की आधार शिला रखी गयी, उसी पाचाली सयुक्ता के जरिये दिल्ली कन्नौज की होड, जो विदेशियो के सफल आक्रमणो का कारण बना। कभी-कभी लगता है कि व्यक्ति का तो नही लेकिन इतिहास का पुनर्जन्म होता है, कभी फीका कभी रगीला। कहाँ द्रौपदी और कहाँ सयुक्ता, कहाँ कृष्ण और कहाँ पृथ्वीराज, यह सही है। फीका और मारात्मक पुनर्जन्म, लेकिन पुनर्जन्म तो है ही।

कृष्ण की कुरु-धुरि के और भी रहस्य रहे होगे। साफ है कि राम आदर्शवादी एकरूप एकत्व का निर्माता और प्रतीक था। उसी तरह जरासध भौतिकवादी एकत्व का निर्माता था आजकल कुछ लोग कृष्ण और जरासध युद्ध को आदर्शवाद—भौतिकवाद का युद्ध मानने लगे है। यह सही जँचना है, किन्तु है अधूरा विवेचन। जरासध भौतिकवादी एकरूप का इच्छुक था। बाद के मगधीय मौर्य और गुप्त राज्यो मे कुछ हद तक इमी भौतिकवादी एकरूप एकत्व का प्रादुर्भाव हुआ और उसी के अनुरूप बौद्ध-धर्म का। कृष्ण आदर्शवादी बहुरूप एकत्व का निर्माता था। जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक भारत का निर्माण भौतिकवादी बहुरूप एकत्व के आधार पर कभी नही हुआ। चिर चमत्कार तो तब होगा जब आदर्शवाद और भौतिकवाद के मिले-जुले बहुरूप एकत्व के आधार पर भारत का निर्माण होगा। अभी तक तो कृष्ण का प्रयास ही सर्वाधिक माननीय मालूम होता है; चाहे अनुकरणीय राम का एकरूप एकत्व ही हो। कृष्ण की बहुरूपता मे वह त्रिकाल-जीवन है जो औरो मे नही।

कृष्ण यादव-शिरोमणि था, केवल क्षत्रिय-राज ही नही, शायद क्षत्री उतना नही था, जितना अहीर। तभी तो अहीरिन राधा की जगह अडिग है, क्षत्राणी द्रौपदी उसे हटा न पायी। विराट् विश्व और त्रिकाल के उपयुक्त कृष्ण बहुरूप

था राम और जरासंध एकरूप थे, चाहे आदर्शवादी एकरूपता मे केन्द्रीकरण और क्रूरता कम हो, लेकिन कुछ न कुछ केन्द्रीकरण तो दोनो में होता है। मौर्य और गुप्त राज्यो मे कितना केन्द्रीकरण था, शायद क्रूरता भी।

बेचारे कृष्ण ने इतनी निःस्वार्थ मेहनत की, लेकिन जन-मन मे राम ही आगे रहा। सिर्फ बगाल में मुर्दे—"बोल हरि, हरि बोल" के उच्चारण से अपनी आखिरी यात्रा पर निकाले जाते है, नही तो कुछ दक्षिण को छोड़ कर सारे भारत मे हिन्दू मुर्दे—"राम नाम सत्य है" के ही साथ ले जाये जाते है। बगाल के इतना तो नही, फिर भी उडीसा और असम मे कृष्ण का स्थान अच्छा है। कहना मुश्किल है कि राम और कृष्ण मे कौन उन्नीस, कौन बीस है। सबसे आश्चर्य की बात है कि स्वय ब्रज के चारो ओर की भूमि के लोग भी वहाँ एक दूसरे को 'जै रामजी' से नमस्ते करते है। सडक चलते अनजान लोगो को भी यह 'जै रामजी' बडा मीठा लगता है, शायद एक कारण यह भी हो।

राम त्रेता के मीठे, शान्त और सुसस्कृत युग का देव है। कृष्ण पके, जटिल, तीखे और प्रखर बुद्धियुग का देव है। राम गम्य है। कृष्ण अगम्य है। कृष्ण ने इतनी अधिक मेहनत की कि उसके वशज उसे अपना अंतिम आदर्श बनाने से घबराते है, यदि बनाते भी है, तो उसके मित्रभेद और कूट-नीति की नकल करते है, उसका अथक निःस्व उनके लिए असाध्य रहता है। इसलिए कृष्ण हिन्दुस्तान मे कर्म का देव न बन सका। कृष्ण ने कर्म राम से ज्यादा किये है। कितने सन्धि और विग्रह और प्रदेशो के आपसी सम्बन्धो के धागे उसे पलटने पड़ते थे। यह बड़ी मेहनत और बडा पराक्रम था। इसके यह मतलब नही कि प्रदशो के आपसी सम्बन्धो मे कृष्ण-नीति अब भी चलायी जाए। कृष्ण जो पूर्व-पश्चिम की एकता दे गया। उसी के साथ-साथ उस नीति का औचित्य भी खतम हो गया। बच गया कृष्ण का मन और उसकी वाणी। और बच गया राम का कर्म। अभी तक हिन्दुस्तानी इन दोनो का समन्वय नही कर पाये है। करे, तो राम के कर्म मे भी परिवर्तन आये। राम रोऊ है। इतना कि मर्यादा भग होती है। कृष्ण कभी रोता नही। आँखे जरूर डबडबाती है उसकी, कुछ मौको पर, जैसे जब किसी सखी या नारी को दुष्ट लोग नगा करने की कोशिश करते है।

कैसे मन और वाणी थे उस कृष्ण के। अब भी, तब गोपियाँ और जो चाहे वे, उसकी वाणी और मुरली की तान सुनकर रस-विभोर हो सकते है और अपने चमड़े के बाहर उछल सकते है साथ ही कर्म-सग के त्याग, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, जय-अजय के समत्व के योग और सब भूतों में एक अव्यय-भाव

का सुरीला दर्शन, उसकी वाणी से सुन सकते हैं। संसार में एक कृष्ण ही हुआ, जिसने दर्शन को गीत बनाया।

वाणी की देवी द्रौपदी से कृष्ण का सम्बन्ध कैसा था। क्या सखा-सखी का सम्बन्ध स्वयं एक अन्तिम सीढ़ी और असीम मैदान है, जिसके बाद और किसी सीढ़ी और मैदान की ज़रूरत नहीं ? कृष्ण छलिया ज़रूर था, लेकिन कृष्णा से उसनें कभी छल न किया। शायद वचन-बद्ध था, इसलिए। जब कभी कृष्णा ने उसे याद किया, वह आया। स्त्री-पुरुष की किसलय-मित्रता को, आजकल के वैज्ञानिक अवरुद्ध रसिकता के नाम से पुकारते हैं। यह अवरोध सामाजिक या मन के आन्तरिक कारणों से हो सकता है। पाँचों पाण्डव कृष्ण के भाई थे और द्रौपदी कुरु-पांचाल सधि की आधारशिला थी। अवरोध के सभी कारण मौजूद थे। फिर भी हो सकता है कि कृष्ण को अपनी चित्त-वृत्तियों का कभी विरोध न करना पड़ा हो। यह उसके लिए सहज और अन्तिम सम्बन्ध था, ठीक उतना ही सहज और अन्तिम और रसमय जैसा राधा से प्रेम का सम्बन्ध था। अगर यह सही है, तो कृष्ण-कृष्णा के सखा-सखी सम्बन्ध का व्यौरा दुनिया मे विख्यात होना चाहिए, और तफसील से, जिससे पुरुष-स्त्री सम्बन्ध का एक नया कमरा खुल सके। अगर राधा की छटा कृष्ण पर हमेशा छायी रहती है, तो कृष्णा की छटा भी उस पर छायी रहती है। अगर राधा की छटा निराली है, तो कृष्णा की घटा भी। छटा में तुष्टिप्रधान रस है, घटा मे उत्कठा-प्रधान कर्तव्य।

राधा-रस तो निराला है ही। राधा-कृष्ण एक हैं, राधा-कृष्ण का स्त्री रूप और कृष्ण राधा का पुरुष रूप। भारतीय साहित्य में राधा का ज़िक्र बहुत पुराना नहीं है, क्योंकि सबसे पहली बार पुराण में आया 'अनुराधा' के नाम से। नाम ही बनाता है प्रेम और भक्ति का वह स्वरूप जो आत्म-विभोर है, जिसमे सीमा बाँधने वाली चमड़ी रह नही जाती। आधुनिक समय मे मीरा ने भी उस आत्म-विभोरता को पाने की कोशिश की। बहुत दूर तक गयी मीरा, शायद उतनी दूर गयी जितना किसी सजीव देह को किसी याद के लिए जाना सभव हो। फिर भी मीरा की आत्मविभोरता मे कुछ गर्मी थी। कृष्ण को तो कौन जला सकता है, झुलसा भी नही सकता, लेकिन मीरा के पास बैठने मे उसे ज़रूर कुछ पसीना आये, कम से कम गरमी तो लगे। राधा न गरम है, न ठडी, राधा पूर्ण है। मीरा की कहानी एक और अर्थ मे बेजोड है। पद्मिनी मीरा की पुरखिन थी। दोनों चित्तौड़ की नायिकाएँ है। क़रीब ढाई सौ वर्ष का अन्तर है। कौन बड़ी है, वह पद्मिनी जो जौहर करती है। या यह मीरा, जिसे कृष्ण के लिए नाचने से कोई मना न कर सका। पुराने देश की यही प्रतिभा है। बड़ा ज़माना देखा है इस

हिन्दुस्तान ने। क्या पद्मिनी थकती-थकती सैकड़ों बरस में मीरा बन जाती है? या मीरा ही पद्मिनी का श्रेष्ठ स्वरूप है? अथवा जब प्रताप आता है, तब मीरा फिर पद्मिनी बनती है। हे त्रिकालदर्शी कृष्ण! तुम क्या तुम एक ही में मीरा और पद्मिनी नहीं बना सकते?

राधा-रस का पूरा मज़ा तो ब्रज-रज में मिलता है। मैं सरयू और अयोध्या का बेटा हूँ। ब्रजरज में शायद कभी न लोट सकूँगा, लेकिन मन से तो लोट चुका हूँ। श्री राधा की नगरी बरसाने के पास एक रात रह कर मैंने राधा रानी के गीत सुने हैं।

कृष्ण बड़ा छलिया था। कभी श्यामा मालिन बन कर राधा को फूल बेचने आता था। कभी बैद्य बन कर आता था, प्रमाण देने कि राधा अभी ससुराल जाने लायक़ नहीं है। कभी राधा प्यारी को गोदाने का न्योता देने के लिए गोदनहारिन बन कर आता था। कभी वृन्दा की साड़ी पहन कर आता था और जब राधा उससे बार-बार चिपट कर अलग होती थी, शायद झुँझला कर, शायद इतरा कर, तब श्री कृष्ण मुरारी को ही छट्ठी का दूध याद आता था, बैठ कर समझाओ राधारानी को कि वृन्दा से आँखें नहीं लड़ायीं।

मै समझता हूँ कि नारी अगर कहीं नर के बराबर हुई तो सिर्फ़ ब्रज में और कान्हा के पास। शायद इसीलिए आज भी हिन्दुस्तान की औरतें वृन्दावन में यमुना किनारे पेड़ में रूमाल जितनी चुनड़ी बाँधने का अभिनय करती है। कौन औरत नहीं चाहेगी कन्हैया से अपनी चुनड़ी हरवाना, क्योंकि औरत नहीं जानती कि दुष्ट जनों के द्वारा चीरहरण के समय कृष्ण ही उनकी चुनड़ी अनन्त करेगा। शायद जो औरतें पेड़ से चीर बाँधी हैं, उन्हें यह सब बताने पर वे लजाएँगी लेकिन उनके पत्र-पुण्य आदि की कामना के पीछे भी कौन-सी सुषुप्त याद है।

ब्रज की मुरली लोगों को इतना विह्वल कैसे बना देती है कि वे कुरु-क्षेत्र के कृष्ण को भूल जाएँ, और फिर मुझे तो लगता है कि अयोध्या का राम मणिपुर से द्वारका के कृष्ण को कभी भुलाने न देगा। जहाँ मैंने चीर बाँधने का अभिनय देखा, उसी के नीचे वृन्दावन के गन्दे पानी का नाला बहते देखा, जो जमूना से मिलता है और राधारानी के बरसाना की रंगीली गली में पैर बचा-बचाकर रखना पड़ता है कि कहीं किसी गन्दगी में न सन जाए। यह वही रंगीली गली है, वहाँ से बरसाने की औरतें हर होली पर लाठी लेकर निकलती हैं और जिसके नुक्कड़ पर नन्दगाँव के मर्द मोटे साफ़े बाँध और बड़ी ढालों से अपनी रक्षा करते हैं। राधा रानी अगर कहीं आ जाये, तो वह इन नालों और गन्दगियों को तो खतम करे ही, बरसाने की औरत के

हाथ में इत्र, गुलाल और हल्के मीनी महक वाले, रंग की पिचकारी थमाये और नन्द-गाँव के मरदों को होली खेलने के लिए न्योता दे। ब्रज में महक नहीं है, कुंज नहीं है, केवल करील रह गए हैं। शीतलता खतम है। बरसाने में मैंने राधारानी की अहीरिनों को बहुत ढूँढा। पाँच-दस घर होंगे। वहाँ बनियाइनों और ब्राह्मणियों का जमाव हो गया है, जब किसी जात में कोई बड़ा आदमी या बड़ी औरत हुई, तीर्थ-स्नान बना और मंदिर और दुकानें देखते-देखते आयीं। तब इन द्विज नारियों के चेहरे भी म्लान थे, ग़रीब, कृश और रोगी। कुछ लोग मुझे मूर्खतावश द्विज-शत्रु समझने लगे हैं। मैं तो द्विज-मित्र हूँ, इसलिए देख रहा हूँ कि राधारानी की गोपियों मल्लाहिनों और चमाइनो को हटाकर द्विजनारियों ने भी अपनी कांति खो दी है। मिलाओ ब्रज की रज-पुष्पों की महक, दो हिन्दुस्तान को कृष्ण की बहुरूपी एकता, हटाओ राम का एक रूपी द्विज-शूद्र धर्म, लेकिन चलो राम के मर्यादा वाले रास्ते पर, सच और नियम पालन कर।

सरयू और गगा कर्त्तव्य की नदियाँ है। कर्त्तव्य कभी-कभी कठोर हो कर अन्यायी हो जाता है और नुक़सान कर बैठता है। जमुना और चम्बल, केन तथा दूसरी जमुना-मुखी नदियाँ रस की नदियाँ हैं। रस मे मिलन है, कलह मिटाता है। लेकिन लास्य भी है, जो गिरावट में मनुष्य को निकम्मा बना देता है। इसी रसभरी इतराती जमुना के किनारे कृष्ण ने अपनी लीला की, लेकिन कुरु-धुरि का केन्द्र उसने गगा के किनारे ही बसाया। बाद में, हिन्दुस्तान के कुछ राज्य यमुना के किनारे बने और एक अब भी चल रहा है। जमुना क्या तुम कभी बदलोगी, आखिर गंगा में ही गिरती हो। क्या कभी इस भूमि पर रसमय कर्त्तव्य का उदय होगा। कृष्ण ! कौन जाने तुम थे या नही कैसे तुमने राधा-लीला को कुरु-लीला से निभाया। लोग कहते हैं कि युवा कृष्ण का प्रौढ कृष्ण से कोई सम्बन्ध नही। बताते है कि महा-भारत में राधा का नाम तक नहीं। बात इतनी सच नहीं, क्योंकि शिशुपाल ने क्रोध में कृष्ण की पुरानी बातें साधारण तौर पर बिना नामकरण के बतायी है। सभ्य लोग ऐसे ज़िक्र असमय नहीं किया करते, जो समझते है वे, और जो नहीं समझते है वे भी। महाभारत में राधा का जिक्र हो कैसे सकता है। राधा का वर्णन तो वहीं होगा जहाँ तीन लोक का स्वामी उसका दास है। रास का कृष्ण और गीता का कृष्ण एक है। न जाने हजारों वर्ष से अभी तक पलड़ा इधर या उधर क्यों भारी हो जाता है ?

बताओ कृष्ण !

19

वर्षागम

—अज्ञेय

सवेरे उठ कर बाहर देखता हूँ तो आकाश सारा मेघों से घिर आया है। मेघ काले नहीं हैं, उजले ही हैं, पर छाये हुए हैं, सारा आकाश। बल्कि ऐसा लगता है मानो वे केवल ऊपर ही ऊपर एक चँदोवे से छाये हुए नही हैं। भूमि के स्तर से ही एक झीना नम धुँधलका-सा उठने लगता है जो ऊपर बढ़ता हुआ घना होता जाता है। बादल ऊपर कहीं एक स्पष्ट स्तर से शुरू होता हो, उसकी तह-सी जमी हो, ऐसा नही। पर भाषा के अभ्यास की सीमा के कारण हो हम कह देगे कि आकाश मेघों से घिरा है या कि ऊपर बादल छाये है। जब कि वास्तव में आकाश नहीं, हम ही मेघों से घिरे हैं; और जो कुछ छाया है वह हमारे आस-पास ही है, ऊपर नहीं; वास्तव में ऊपर तो अब से वैसा ही निर्मल नभ होना चाहिए ··

बादल का यह घिराव मानों आस-पास ही नहीं, भीतर भी है: एक धुँधलका, एक घुटन-सी, भीतर भी छायी है। तन-मन दोनों अलसा रहे हैं—पर एक मधुर आलस्य से नहीं, एक बोझीली कर्मण्यता से। याद आता है कि रात में जाग कर भी थोड़ी घुटन महसूस की थी; पर तब उसे केवल बाहर की घुम्म निर्वात स्थिति का असर मान लिया था, क्योकि जब सोने गया था तब तो तेज़ हवा चल रही थी···थोड़ी देर उस घुम्म मे कहीं भी किसी तरह की गति की प्रतीक्षा करता पड़ा रहा था; दो-एक बार साँस रोक कर भी कान लगाये सुनने की कोशिश की थी कि कहीं कुछ तो शब्द हो, चाहे छत की चादर मे ही ज़रा-सी चरमराहट हो जाय, जैसी तापमान बदलने से ही कभी होती है, चाहे हवा न भी चल रही हो···पर नही, मानो सभी कुछ निश्चेष्ट हो रहा था। मुझे फिर भी ध्यान न आया कि यह जो घुटन-सी अनुभव कर रहा हूँ और यह जो असाधारण निश्चलता, नीरवता चारों ओर छा गयी-सी लगती है इसका कारण (या परिणाम) यह होना चाहिए कि बदली घिर रही है। जैसे-तैसे दो-चार बार करवट लेकर फिर सो गया।

और अब सवेरे यह घिराव जो अलक्षित ही हो गया। यों तों बाहर से घिराव होता तभी है जब भीतर निश्चेष्टता घर कर गयी होती है : मस्तिष्क तक जब निश्चेष्ट होता है तब एक धुन्ध मन मे भर जाती है। पर मन और मस्तिष्क तो अलग-अलग है और मन कभी निश्चेष्ट हो ही नही सकता। और मन ही क्यो मस्तिष्क भी क्या सचमुच कभी निश्चेष्ट होता है ? कुछ भी क्या कभी निश्चेष्ट होता है? यो तो ऐसी सारी शब्दावली सापेक्ष ही होती है. हलचल का जो स्तर देखने या अनुभव करते रहने के हम अभ्यस्त होते है उससे कम हो जाए तो हम उसे निश्चलता कह देते है। नही तो मैने अनुभव किया है कि जिसे हम सन्नाटा कहते है उस मे जब बाहर के शब्द सुनाई नही देते, तो हम अपने हृदय की धडकन साफ सुन लेते है, बल्कि उससे भी आगे, हमारे कान हमे शरीर मे रक्त के दौडने का शब्द भी सुनवा देते है। 'निश्चलता' और 'नीरवता' मे हम असख्य अविराम गतियो, असख्य सूक्ष्म स्वरो के प्रति सजग हो जाते है, हमारा चेतना-यन्त्र सबकी छाप ग्रहण करने लगता है। तभी हम जानते है कि जीवन के कोलाहल मे कितना कुछ हम अनसुना करते रहते है जो वास्तव मे तो अपनी सूक्ष्म छाप हमारे श्रवण-यन्त्र पर छोड रहा होता है। और इसी प्रकार जीवन की चकाचक चौंध मे कितना कुछ हम अदेखा कर रहे होते है, प्रदूषित वायुमण्डल की लगातार झारदार भभक मे हम कितनी सूक्ष्म सुवासो को हम अनाघ्रात छोड देते है··· स्पर्श के बारे मे भी यही बात कहते थोडी झिझक होती है क्योकि उस पर हमारा प्रयत्न कुछ अधिक है। (वह सबसे पुरानी ज्ञानेन्द्रिय जो ठहरी !) पर विचार करके देखे तो हम पाये कि स्पर्शो की सकुल भीड़ मे असख्य स्पर्शानुभव भी हमारे अलक्षित रह जाते हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान ऐसे ही 'किसी ठहरे' हुए क्षण मे जाता है जब बाहर के घिराव के बावजूद हम सक्रिय रूप मे उससे आक्रान्त नही होते— भले ही वह आक्रमण से पहले का, बल तौलने का क्षण हो। सचमुच, मैने तो ऐसे मे कभी-कभी यहाँ तक अनुभव किया है कि कैसे मेरे कुम्भक प्रश्वास की हवा मेरे फेफडो के अस्तर को सहलाती हुई छूती है, और यह तो अक्सर लक्ष्य किया है कि जब आँख की पुतली भी तेजी मे इधर-उधर घुमाता हूँ तो उस चलानेवाले स्नायुजाल की गति का स्पर्श-मूलक अनुभव तो कर ही सकता हूँ, उस गति का शब्द भी भीतरी कान से सुन पाता हूँ···

इसी लिए मुझे तो ऐसे ठहरे हुए क्षण बहुत प्रेय लगते है। भले ही उनका आना एक हल्की-सी घुटन के साथ होता है। वह घुटन और कुछ नही है, केवल अपने अभ्यास की झीनी मगर मजबूत चादर खीची जाती अनुभव कर बलात् उससे चिपटे रहने का अचेतन प्रयास है। पर जब वह

चादर झपट ही ली जाती है तो एकाएक नगे हो गये होने का नही, मुक्त हो गये होने का बोध होता है। तब कभी-कभी यह भी ध्यान आता है कि नगे या ढँके होने की यह भावना भी तो एक अभ्यास ही है, भाषा का और सोच का एक मुहावरा ही तो है—नही तो स्वय अपनी चेतना के सामने कौन नगा नही है और अगर नगा नही है तो क्या अपने को ही अन्धकार मे नही रख रहा है, अपने को ही नही ठग रहा है? बच्चे कभी-कभी अपने झगे को उठा कर आँखे ढँक लेते है और मानते है कि वे अदृश्य हो गये हे। उन्हे क्या अनुभव होता है कि और सब तो वे अधिक नगे होकर दृश्य हो गये है, अपने ही लिए उन्होने सब कुछ को अदृश्य बना लिया है! बच्चो की इस हरकत पर हम वात्सल्य-भरी करुणा से हँस लेते है। हम नही जानते कि हम पर भी कोई लगातार ऐसी वात्सल्य करुणा मे भरा हँसता रहता है कि नही। पर निश्चय ही हमारे अधिकतर उद्यम-व्यापारो के साथ ऐसी ही झगा उठाकर आँखे ढँक लेने की क्रिया जुड़ी रहती है—हम मान लेते है कि वह हमारी हरकतो को नही देख सकता जब कि वास्तव मे हम केवल अपने को पगु कर रहे होते है ··

रात मे घुटन के साथ थोडी गर्मी लगी थी, पर अब इस बदली के साथ थोड़ी खुनकी भी है हवा म—हवा अभी ठीक 'चली' नही है पर जिस प्रचोदित सवेदन की बात मैने कही, उससे मै उसकी गति का अनुभव कर सकता हूँ, उसके स्पर्श की सिहरन भी मुझे हो रही है। मै सामने के पेड की ओर देखता हूं—उसकी बृहत् काया मे कही कोई गति नही है—नही, उसकी जीवन्त देह मे कही नही—पर उस एक सूखी डाल पर, जिसमे पिछले बरस की काई झूल रही है, यह क्या देख रहा हूँ? नही, भ्रम नही है, सचमुच वह झूल जरा-सी झूली है; उसकी ओट मे एक पिद्दी-सी फुलचुही न जाने क्या कर रही है—बडी मुस्तैदी से कुछ कर रही है · पख, चोच, पैर उसकी पूरी देह ही मानो क्रियाशीलता स थरथरा रही है, और वह थर्राहट उस झूल तक सम्प्रेषित होकर उसे भी कँपा रही है—और क्या उस सूखी डाल को भी नही कँपा रही है? आँखे गडा कर मै उस गति को नही देख पाता, पर तनिक-से उद्दिष्ट अनवधान से ही उसे न केवल पहचान लेता हूँ बल्कि अनुभव करता हूँ कि वह मेरे भीतर कही उतर रही है: अपने अलसानेपन के बावजूद मै एकाएक अपने अन्तर्तम तक थरथरा उठा हूँ अपनी प्राणवत्ता की एक थर्राहट के बोध से। यह नही कि उठ कर लपक कर कुछ-न-कुछ करने को ही व्याकुल हो उठा हूँ—नहीं, पर कर्मण्यता की, कर्म-समता की एक लहर भीतर दौडी है। निश्चय ही उसकी ऊर्जा भीतर ही कही-न-कही सचित हो जायेगी—हो नहीं सकता कि वह केवल इसलिए नष्ट हो जाये कि मैंने तत्काल उसे काम मे नही लगा

लिया, उसे दुह नहीं लिया, प्रत्यक्षतः कुछ 'किया' नहीं ! निश्चय ही ऊर्जा की ऐसी लहरें हमारे भीतर उमड़ती और संचित होती रहती हैं—निश्चय ही उनके भंडारण की कोई व्यवस्था हमारे भीतर है। तभी तो, संकट की अवस्थाओं में जब हम सभी ओर से निरुपाय होकर हथियार डालने को होते हैं तो एकाएक अनुभव करते है कि नही, अभी तो ऊर्जा का एक और भंडार था भीतर—हमी उसके तार जोड़ना भूल गये थे !—और एक अपरिभाषेय कर्म-तत्परता से फिर संकट का सामना करने में जुट जाते हैं। जिन्हें भी संकटों का, 'चरम परिस्थितियों' का सामना करने का अवसर हुआ है, सभी इस 'दूसरे स्तर' के ऊर्जा-स्रोत से परिचित होगे; कुछ ने यह भी जाना होगा कि यथा-समय उसके तार जोड़ लेने की—या कि उसकी घुडी दबा देने की—क्योंकि तार तो जुड़े ही रहते है !—प्रक्रिया क्या है। बल्कि सच तो यह है कि वह व्यवस्था ऐसी है कि घुडी दबाने की अपेक्षा भी उसमें नही रहनी चाहिए : वैद्युतिक सयन्त्र का ही मॉडल सामने रख कर कहें कि उसमें कहीं ऐसा कट-आउट भी जुड़ा होता है जो तब तक उस ऊर्जा-भंडार से शक्ति-प्रवाह होने ही नही देता जब तक दूसरे स्रोत चुक न गये हों और वह चरम अवस्था आ न गयी हो···और क्या जाने, इस प्रकार धारा पलट जाने के बाद उस पहले भंडार को भी अवसर मिल जाता है कि फिर से ऊर्जा-संचय कर ले। तभी तो जब हम ऐसे आस्तित्विक सकट की स्थिति के पार निकल कर आते हैं तब क्लान्ति का अनुभव नही होता, एक स्फूर्ति का ही होता है। दो भंडार रिक्त हो गये हो, ऐसा न होकर यह हुआ होता है कि साधारण भंडार फिर से भर गया होता है और आपातिक भडार से अपने दक्ष सामर्थ्य का परिचय देकर हमे पुनरुत्साहित कर दिया होता है।

अरे, पर बात तो मै उस पिद्दी चिड़िया की करने जा रहा था। वह इस बीच कई बार उस झूल से उड़कर कही का चक्कर लगा आयी है। न जाने कहाँ जाती है वह, पर इतना स्पष्ट है कि ये उड़ाने सोद्देश्य है—वह किसी निश्चित काम मे लगी है, किसी निश्चित जगह जाती है। पता नही, झूल से उस जगह कुछ ले जा रही है, या उस जगह से ही कुछ लेकर आती है। दोनों ही बातें सम्भव है; काई के इस झूल मे इतना दम है कि चिड़िया का, उसके संग्रह का, और यदि वह घोंसला बनाने के चक्कर में है तो उसके घोंसले का, अंडों-बच्चों का, बोझ बखूबी सँभाल ले। अवश्य ही मै पता लगाना ही चाहूँ तो उठकर पड़ताल कर सकता हूँ, झूल के भीतर टोह सकता हूँ या चिड़िया की उडान का अनुसरण करके उसकी यात्रा के दूसरे पड़ाव का रहस्य जान सकता हूँ। पर क्यों ? जानने या जानना चाहने में कोई बुराई नहीं है, पर मेरी वैसी हरकत न केवल चिड़िया के जीवन में एक भारी हस्तक्षेप होगा

जिसके लिए कोई संगत कारण होना चाहिए। और उसकी संगति यही तो हो सकती है कि चिड़िया के जीवन में उसके उद्यम का जो महत्त्व है, मेरी जिज्ञासा का मेरे जीवन में उसके समकक्ष ही महत्त्व हो ? निरा कुतूहल उस कोटि का सरोकार नही है। हाँ, उसके पीछे ऐसी प्रबल वैज्ञानिक जिज्ञासा हो कि उसके समाधान से जीवन-मरण के (न सही स्थूल कोटि के, सूक्ष्मतर आयाम के ही सही) कोई प्रश्न हल होने वाले हो तो दूसरी बात होगी।

यों यह बात भी कम महत्त्व की नही कि जब मैं जिज्ञासा से प्रेरित होता हूँ तो उस सारी प्रक्रिया को ही बदल देता हूँ जिसके प्रति मेरी जिज्ञासा है। यानी मेरा हस्तक्षेप केवल इस पिद्दी चिड़िया के जीवन तक न रह कर प्रक्रिया-मात्र मे हस्तक्षेप का रूप ले लेता है। एक ओर चिड़िया के, चिडिया और फूल और सूखी डाली के सम्बन्ध के (और यो प्रस्तार मे पेड, प्रदेश, देश के जीवन के) सारे व्यापार है जो अलक्षित हो रहे है, जो स्वयदर्शी, स्वयसाक्षी, स्वयसिद्ध व्यापार है और जो यो सारी विश्व-प्रक्रिया के अग है जो भी उसी तरह स्वयसाक्षी और स्वयसिद्ध है। दूसरी ओर एक नपी-नपायी पिद्दी चिड़िया की एक नपी-नपायी नन्ही हरकत है और उसे देखने-जांचने-नापनेवाला मै हूँ —और यहाँ जितना ही मै उसे देखता और अपनी समझ के भीतर आत्म-सात् करता हूँ—'नापता' हूँ—उतना ही वह चिड़िया छोटी होती जाती है और मै बड़ा होता जाता हूँ—मैं भी नही, मेरा कुतूहल बड़ा होता जाता है, और चिडिया का वह कर्म जिसके प्रति कुतूहल था—जिसके कारण ही कुतूहल अस्तित्व मे आया !—वह छोटा होता जाता है। यानी सारी प्राथमिक, स्वयचालित, स्वयं-साक्षी, स्वयसिद्ध विश्व-प्रक्रिया छोटी होती जाती है और मै बड़ा होता जाता हूँ—कुतूहल-प्रेरित मेरा विस्फारित अहं ही और फैलता जाता है ! क्या फिर भी मै कह सकता हूं कि मै चिडिया के व्यापार मे उसी प्रक्रिया को देख रहा हूं, जो वह अपने-आप मे है ? क्या किसी भी प्रक्रिया को देख रहा हूँ जो वह अपनेआप मे है ? क्या किसी भी प्रक्रिया को मैंने वही रहने दिया है जो वह अपने आप मे है ?—जब कि मै ही सारे अनुपात विकृत कर चुका हूँ ?

पर फिर मैने यह कैसे कहा कि जानना चाहने मे कोई बुराई नही है ? बुराई नही है—यदि हम यह जाने रहे कि हम कैसे प्रक्रिया को प्रभावित करते है और करते लगते रहते हैं—और इस प्रकार स्वय प्रक्रिया का अग बन जाते है। क्योंकि ऐसा तो नही है कि प्रक्रिया उस पिद्दी चिड़िया से आरम्भ होकर ब्रह्मांड-भर को तो व्याप ले पर केवल हमें बाहर छोड़ जाये ! हम न उसके बाहर है न बाहर रह सकते है; हाँ, उसके भीतर होने की सच्चाई के प्रति अपने को अन्धा बनाये रख सकते है। एक हद तक तो यह चेष्टित अन्धापन

हमारे जीवन की एक आवश्यकता भी है; क्योंकि सब कुछ के प्रति सम्पूर्णतः खुले रहना सीमित-लक्ष्य के लिए सीमित-क्षेत्र में सीमित कर्म करने में बाधक भी होता है। बल्कि ज्यादातर तो हमारा जीवन ऐसे ही सीमित क्षेत्र में सीमित आधारों पर होता है; तभी तो बृहत् को बाहर ही रखने के लिए शरीर-यन्त्र में ही कई तरह के छन्ने और अवरोध लगे रहते है। वह सब है; पर जब हम विश्व-प्रक्रिया की ओर ध्यान देते हैं तो अपने को उससे बाहर कैसे रख सकते है ? उस स्तर पर फिर सार्थकता तभी मिल सकती है अगर यह पहचान लें कि हम भी उस प्रक्रिया का अंग है, हमारा उसे देखना और समझना चाहना भी; और इस प्रकार सब-कुछ सभी-कुछ को प्रभावित कर रहा है, बदल रहा है। सभी-कुछ सब-कुछ का अनुसन्धित्सु है; ऐसी स्थिति मे कोई प्रक्रिया को देखनेवाला है तो निश्चय ही उसे 'मै' नही कहा जा सकता; एक साक्षी तो है पर उसके द्वारा मै भी देखा जा रहा हूँ इस प्रक्रिया के अंग के रूप में···

पर अलक्षित प्रक्रिया कुछ और आगे बढ़ गयी है शायद—बदली कुछ अधिक घनी, कुछ कम उजली हो गयी है; प्रकाश कुछ मन्द हो गया है—हाँ, एकाएक दो-एक बूँदे भी झरी है। शायद वर्षा होगी।

क्या मेरे कुतूहल ने सचमुच इस हद तक प्रक्रिया मे हस्तक्षेप किया है ? नही, वर्षा हुई तो मै उसका साक्षी हूँगा अवश्य, पर मै जानता हूँ कि यह वर्षा लाख-लाख लोगो की प्रतीक्षित है, जिन सबकी आकांक्षा ने भी प्रक्रिया को प्रभावित किया होगा और जो सब भी इसके साक्षी होगे। और वर्षा ऋतु भी स्वयं देखेगी कि कितना-कितना हर्ष चारों ओर लहरा उठा है। क्योकि असली साक्षी तो ऋतु ही है, जो सब-कुछ को 'होते' देख रहा है !

20

नगर-वध

—अमृत राय

नहीं, मैं पुरानी वैशाली या नयी दिल्ली की किसी नगर-वधू की बात नहीं कर रहा हूँ, मेरा मतलब अपने इस छोटे-से नगर से है, जिसे आज-कल वधू के समान सजाया जा रहा है। सुना है अपनी नगर-पालिका को, जिसे कुछ लोग भूल से नगर-घालिका कह जाते है, कही से नगर-सज्जा के लिए तीन करोड़ रुपया मिला है। मैंने तो भाई, तीन करोड़ रुपया आँख मे देखा भी नहीं, लेकिन जरूर काफ़ी बड़ी रक़म होती होगी। खनकौआ रुपये की तो बात ही छोड़ दो, पचासो ख़च्चर लगते तीन करोड़ रुपया ढोने को। मगर अच्छा है कि वह अब मिलता ही नही—बहुत कहे-सुने, शादी-ब्याह, पूजा-पार्वन के लिए सौ-पचास मिल गया तो बड़ी बात—अब तो कागद के रुपये का चलन है, कोरे कागद पर जो मन चाहे छाप दो। ऐसे सौ-सौ के एक हजार नोट की गड्डी बनाओ तो वह एक लाख रुपया हुआ। ऐसे लाख-लाख की तीन सौ गड्डी बनाओ तो वह तीन करोड़ रुपया हुआ! इतना रुपया मिला है अपनी नगर-पालिका को—नगर-वधू अब नही तो कब सजेगी। और मज़ा ये कि इतना सब रुपया इसी 31 मार्च तक खर्च भी कर डालना है वर्ना बाक़ी सब रकम तो डूब ही जायेगी, नगरपालिका के मुँह पर कालिख पुतेगी सो अलग—ये लो, और तो कभी कुछ करते-धरते बना नहीं, फोकट का रुपया ख़र्च करना तक नही आया, सरासर नाकारा लोग है।

तो फिर बताइए, कैसे कोई इतना बड़ा कलक का टीका अपने सर लग जाने दे? तुम 31 मार्च कहते हो, हम उसके पांच दिन पहले ही सब लेई-पूंजी साफ़ न कर दे तब कहना। पैसा तो हाथ का मैल है, अँगूठे से मलने भर को देर है।

लेकिन साहब, इसमें शक़ नही कि ये 31 मार्च भी अपने ढंग की एक ही चीज है, एक जादुई तारीख़! क्या कहना! औरों को तो जाने ही दीजिए, तमाम सरकारी महकमे भी जो साल भर कान में तेल डाले सोते पड़े रहते

स्तवक

हैं, 31 मार्च पास आते ही ऐसे भड़भड़ाकर जागते हैं कि जैसे अरथी पर का मुर्दा यकायक जाग उठे। फ़ाइलें सहेजी जाने लगती हैं, बही खाते ठीक किये जाने लगते हैं, जहाँ जिस मद में जो रक़म बची हो उसको किनारे लगाने की तदबीरें की जाने लगती है। बच न जाय कहीं कोई रक़म वर्ना हिसाब के दिन जब हमसे जवाब तलब होगा तब हम क्या कहेंगे, कहाँ मुँह छिपायेंगे, कैसे यह बात हमारी जबान पर आयेगी या किसी के दिमाग में धँसेगी कि हम ऐसे बला के घामड़ आदमी है कि अपना पैसा तो अपना पैसा, सरकारी पैसा ख़र्च करने में भी हमारी छाती फटती है।

क्यों नही कहेगा। जरूर कहेगा। डंके की चोट पर कहेगा। जो सुनेगा वो कहेगा। कोई माने या न माने, मै समझता हूँ यह बहुत अच्छा उसूल है कि 31 मार्च तक सब पैसा खर्च हो जाना चाहिए—हमारे पास कोई तो कसौटी हो अपने आदमियों को परखने की। फिर इससे अच्छी कसौटी और क्या हो सकती है कि रुपया खर्च हो रहा है। रुपया खर्च हो रहा है यानी अफसर जिन्दा भी और सो भी रहा है। काहे मे खर्च कर रहा है यह तो बाद की बात है। जब खर्च कर रहा है तब ठीक ही खर्च कर रहा होगा—और ठीक-बेठीक समझने को तो अभी साल भर पड़ा है। 31 मार्च को हम सब रुपया खर्च करके खलास हो गये, अब हमारे पास कानी कौडी भी नही, यह क्या कम कारगुजारी है? रुपया नलकूप बनवाने मे लगा या सडक की मरम्मत मे या किसी अधिकारी का मकान बनाने या उनकी बीवी के गहने गढवाने मे, इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? आखिर किसी के तो काम आया, पड़ा-पड़ा मिट्टी तो नही हो गया? इसी का नाम विकास है—और नही क्या विकास के कोई सीग-पूँछ लगी होती है? रुपया देश के विकास के लिए है, और सब लोग जो इस देश मे रहते है उनका ही विकास देश का विकास है। इतना ही नही, मै तो समझता हूँ कि बुद्धि इसी तरह की निरर्थक आपत्तियो से बचने के लिए देश का हर विकास-अधिकारी अपने एक न एक लडके का नाम विकास जरूर रखता है, और अगर नही रखता तो उसे रखना चाहिए क्योकि तब उसका रिकार्ड और भी साफ रहेगा और कभी पूछताछ होने पर वह सीना ठोककर कह सकेगा कि उसने जो कुछ जहाँ भी जमा किया है या खर्च किया है, विकास के लिए किया है। और हमेशा विधिवत् किया—सब विभागीय नियमो का पालन करते हुए और निर्दिष्ट अवधि के भीतर।

निर्दिष्ट अवधि अर्थात् 31 मार्च। उस दिन रक़म चाहे एक रुपये की हो और चाहे तीन करोड़ या तीन अरब की सबका जमा-खर्च हो जाना ही चाहिए—इसीलिए दोनो शब्दों के अत्य अक्षरों को लेकर इस महीने को 'मार्च' कहा जाने लगा। (कोश को भूल जाइए जो ये कहता है कि 'मार्च' नाम 'मार्स'

यानी मंगल ग्रह पर पड़ा— अपना जमा-खर्च ठीक है तो सब ग्रह मंगल ही समझिए !)

लिहाजा यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि 31 मार्च आते-आते सब सरकारी और नीम-सरकारी अधिकारियो के अन्दर पैसा खर्च करने का जोश पागलपन की हद पर पहुंच जाता है। होली मे लोग जैसे अपने घर का दरिद्दर निकालते है, वैसे ही अधिकारी 31 मार्च को अपने हाथ का सरकारी पैसा निकालते है, कही फेंको पर अपने पास से हटाओ—31 मार्च के बाद अफ़सर के पास सरकारी रक़म का पकडा जाना गाँजा-भाँग पकडे जाने से कम भयानक नही !

अब आप समझ लीजिए, क्या कुछ नही हो रहा होगा आजकल हमारे यहाँ—तीन करोड रुपया इसी 31 मार्च के पहले किनारे लगाना है। माना कि इस काम के लिए पूरा एक महकमा है, मगर सूझबूझ तो किन्ही दो-एक लोगो को ही होगी, पकडा तो कोई बडा अफसर ही जायेगा, शहर की खूबसूरती मे तुमने कहाँ क्या जोडा, लाओ उस तीन करोड का हिसाब दो…

लेकिन साहब, मानना होगा कि हमारी नगरपालिका भी कोई ऐसी-वैसी नही है। सब कुछ अपने यहाँ तैयार है। भवन-निर्माण-कला-विशारदो का एक पूरा विभाग डिजाइन पर डिजाइन बनाकर ब्लूप्रिंट विभाग को देता चला जा रहा है, उधर ब्लूप्रिंट विभाग है कि उसे सर उठाने की मुहलत नही है। सबसे पहले तो नगरपालिका का नया भवन बनेगा (पुराने मे वैसे कोई खराबी नही है, अभी दस बरस पहले तो बना था, खूब मजबूत है, ऊँची-ऊँची दीवारे है, लबे-चौड़े हवादार कमरे है, आराम मे कोई कमी नही, पर कुछ लोगो का कहना है कि स्टाइल पुराना पड गया है) फिर नगरपालिका के सभासदो के भवन बनेगे। ठीक भी है, मदिर मे दिया जलाने मे पहले आदमी अपने घर मे दिया जलाता है। ये दो काम हो जाये तो फिर आगे की बात सोची जाय—और आगे की बात सोचते ही पहला ध्यान अपने शॉपिग सेन्टर पर जाता है। कितना फटीचर है, बाबा आदम के वक्त का। जमाना बड़े-बड़े शीशो की लकदक शो-विडो का है—अदर कुछ हो न हो, शो-विडो तो खूब भड़कीली होनी ही चाहिए, और अपने यहा देखिए तो वह सब कुछ भी नही, दूकाने सब अपने नाम को रोती-सी नजर आती है, मनहूस शकल, चेहरे पर मक्खियाँ-सी भिनकती हुई। आधुनिक साज-सज्जा का यहाँ पर क्या जिक्र रोशनी तक तो ठीक है नही, न दूकानों की और न सड़को-चौराहो की, बड़ी जगहँसाई होती है। दुनिया कब की प्लास्टिक और जाने काहे-काहे पर पहुँच गयी, हम अब तक अपना वही ईट-गारा लिए बैठे है ! जब कि शॉपिग सेन्टर ही खास चीज है, जिससे किसी देश की उन्नति का पता चलता है। नही नही, इस कबाड़खाने से काम नही चलेगा, फ़ौरन से

पेशतर ये शॉपिंग सेन्टर ठीक होना चाहिए। और काम चालू हो गया है। सड़कों पर सब तरफ़ बड़ी-बड़ी नियॉन लाइट्स लग रही हैं, दो महीने बाद आकर देखिएगा शहर कैसा जगमग-जगमग नज़र आता है। बड़ी-बड़ी सड़कों पर जितने सब मकान हैं, उनके मालिकों को नोटिस चला गया है कि जल्द अपने-अपने घरों का रंग-रोग़न दुरुस्त करवा लें, मकानों की ये रोती-पीटती वीरान सूरतें अब नहीं चलेंगी। मकानवाले नही करवायेंगे तो नगर-पालिका खुद करवा के बिल उनके पास भेज देगी और वक़्त पर बिल का भुगतान नहीं हुआ तो सबसे पहले उनका पानी काट दिया जायेगा। (और अगर उतने से काम न चला तो शायद आगे चलकर मकान मालिकों का सर भी काट दिया जाये, लेकिन इसके बारे मे नोटिस फ़िलहाल ख़ामोश है !) जो हो, नगरपालिका ने सर्व-सम्मति से प्रस्ताव पास कर दिया है और हम लोग अब अपनी नगर-वधू को नख-शिख दुल्हन की तरह सजाकर ही दम लेंगे। और उसके माथे की बिंदिया तो है वह गंगा मैया की पनघट से लौटती हुई गाँव की अल्हड़ गोरी जैसे फ़िल्मी हीरोइनवाली मूर्ति, लचकती बल खाती कमर पर गगरी टिकाये ठुमुक-ठुमुक चलने की मुद्रा में, जो सिविल लाइन्स के बीचोबीच चौराहे पर प्रतिष्ठित की गयी है। वाह, क्या कहना ! देखकर ही आँखें जुड़ा जाती हैं, और जो कहीं चुल्लू भर पानी मिल जाय उस गोरी के हाथों से तो हम खड़े-खड़ डूब मरें। निश्चय ही वह माइकेलएंजेलो के समान किसी बड़े शिल्पी की कृति है, भले आज कोई उसे न जानता हो। और ख़र्च की तो बात ही मत पूछो, चालीस-पचास हजार से क्या कम लगा होगा उस मूर्ति का, और लगने को तो लाख दो लाख भी लग सकता है, कलाकृति जैसी अनमोल चीज, कौन उसका मूल्य आँके और कैसे आँके— और फिर जहाँ ···मतलब ये है कि···तू मै सबको देखना पड़ता है·· आप तो जानते है··· आपसे तो कुछ छिपा नही···

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नही कि गंगा मैया ने आकर इस नगर के सुन्दर परिदृश्य को और भी सुंदर बना दिया है। कोई भी फूहड़-वदसूरत चीज अब कही रहने नही पायेगी। सब चाटवाले, छोलेवाले, लैया करारी और चिनिया-बदामवाले और इसी तरह के दूसरे घुरहू-घसीटे लोग खदेड़े जा रहे है। गुम-टियाँ भी सब तोड दी गयी। उनकी जगह अब बहुत मॉडर्न, हल्की-फुल्की दुकानें बन रही हैं, जिनका नाम भी वैसा ही है, कियॉस्क। उनमे अब किसी में टी हाउस खुल रहा है, किसी में कॉफ़ी सेन्टर, किसी में सॉफ़्टी कॉर्नर; एक में तली-भुनी मछली और कबाबवाला बैठेगा। दो लंबे-चौड़े बार होंगे और कपड़ेवालों की तो कोई गिनती ही नहीं, क्योंकि कपड़े से ही आदमी पहचाना जाता है, बल्कि यों कहें कि आदमी आदमी बनता है—जानवर से तो आदमी

बनता ही है (इसके सिवा फ़र्क़ भी क्या है दोनों में ?) भिखमंगे से भी आदमी बन जाता है और धीरे-धीरे वही कपड़े की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए बड़ा आदमी बन जाता है, अंदर कुछ हो या न हो, क्योंकि कपड़ों के भीतर झाँकना एक तो यों ही बदतमीज़ी में दाख़िल है और फिर दुनिया को इसकी फ़ुर्सत भी नहीं, कपड़ा ठीक है तो सब ठीक है। बिलकुल ठीक, शो-विंडो की सजावट दुकानों के लिए ही नहीं, खुद आदमी के लिए भी उतनी ही ज़रूरी चीज़ है! क्योंकि आख़िर वह भी तो अपने ढंग का एक माल है जो बाज़ार में बिकने के लिए खड़ा है। जभी तो देखिए, सड़कों-पर सब तरफ़ अच्छे से अच्छे और रंग-बिरंगे कपड़ों में सजे-धजे काठ के से पुतले डोलते नज़र आते हैं। ताहम बेचारों को काम नहीं मिलता और बेकारी है कि ग़रीब आदमी की लड़की की तरह दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती ही जा रही है। इसका एक इलाज कपड़े के कुछ बड़े दुकानदारों ने, जिन्हें इस नये शॉपिंग सेन्टर में जगह दी जा रही है, यह सोचा है कि वो अपनी इन नयी दूकानों की क़दे आदम बल्कि उससे भी ज़्यादा लंबी-चौड़ी शो-विंडो में उन पुराने सूटेड-बूटेड काठ के पुतलों की जगह इन नये काठ के पुतलों को खड़ा करेंगे। बड़ा अच्छा ख़याल है, सबको बहुत पसंद आयेगा और फ़ायदा तो जैसे पहुँचेगा ही। सबसे पहले तो ये लड़के खुश होंगे उन्हें एक ढंग की, इज़्ज़तदार नौकरी मिलेगी, दिन में चार दफ़े छः दफ़े अच्छे, से अच्छे और नये से नये कपड़े पहनने को मिलेंगे और घूम-घूमकर अपने को दिखाना भी नहीं पड़ेगा, ठाठ से अपनी जगह पर बुत बने खड़े रहो, लोग आप आ-आकर तुम्हें देखेंगे। उधर वो दूकानदार खुश—एक तो लकड़ी आजकल आदमी से ज़्यादा महँगी हो गयी है, दूसरे काठ का पुतला फिर भी काठ का पुतला है, खड़ा है तो बस खड़ा है, न कभी हँसता है न मुस्कराता है न किस को सलाम करता है, जबकि ट्रेनिंग मिलने पर ये नये पुतले सभी कुछ बडी बाँकी अदा से करेंगे और ग्राहक को झख मारकर दूकान के अन्दर आना पड़ेगा। और उधर सरकार की खुशी का क्या ठिकाना, बैठे-बिठाये देश की बेकारी की समस्या हल हो गयी, जहाँ अक्ल कुछ काम ही न करती थी, करें तो क्या करें! क्या अजब की सरकार खुश होकर इन दूकानदारों को अच्छा सा कुछ इनाम ही दे डाले। रही नगरपालिका तो उसकी तो अभी से बाँछें खिली जा रही हैं। नगर-वधू की सुंदरता में जब चार चाँद लगेंगे तब लगेंगे, अभी कुछ महीनों की देर है, पर हमारे मेयर साहब की छटा तो अभी से ही गिरा अनयन, नयन बिनु बानी हो रही है—आँखों में एक चमक आ गयी है जो इस दुनिया की लगती ही नहीं, बत्तीसी हर दम ऐसी खुली रहती है कि लगता है मुँह में ज़्यादा नहीं तो चौंसठ दाँत तो होंगे ही, काफ़ी तनकर चलने लगे हैं कि जैसे बढ़े मेरुदंड को खपाची लगाकर सीधा कर दिया गया हो,

यानी कि बस देखते ही बनता है, शोभा बरनि न जाई। बात ये है कि उनके पास प्राइम मिनिस्टर की चिट्ठी आ गयी है, शो-विंडो में काठ के पुतलों की जगह जीते-जागते लड़कों-लड़कियों को खड़ा करने की स्कीम उन्हें बहुत पसंद आयी है और उन्होंने मेयर साहब को बुलाया है, इसी के बारे में बात करने को, उनका इरादा शायद देश भर में इसे लागू करने का है। मतलब यह कि मेयर साहब की इस वक़्त पाँचों अँगुली घी में हैं, रॉ सिल्क के कुर्ते और ऊनी जवाहर जैकेट तैयार की जा रही है। दूकानदारों को जबसे इस बात का पता लगा है, सब बहुत बिफरे हुए हैं कि स्कीम उनकी और श्रेय लूट ले गये मेयर साहब ! जो हो, अपने को इससे क्या, यह सब तो लगा ही रहता है, मगर इसमें शक़ नहीं कि ये अपने ढंग की बिल्कुल पायनियर स्कीम है, दुनिया के पर्दे पर आज तक ये चीज़ कहीं देखी या सुनी नहीं गयी। नगर की सुन्दरता तो बढ़ेगी ही, सारी दुनिया में अपना नाम हो जायेगा !

इसके बाद फिर करने को ही क्या रह जाता है, और तीन करोड़ रुपये की बिसात ही कितनी। मैं क्या जानूं, मैंने तो जैसा पहले ही कह चुका हूँ तीन करोड़ रुपया आँख से देखा भी नहीं और न इस जनम में देखने की उम्मीद ही है, लेकिन जो लोग ऐसी बड़ी-बड़ी रक़मों को हाथ लगाते रहे हैं उनका कहना है कि देश के कामकाज में तीन करोड़ रुपया तीन पैसे के बराबर होता है। ज़रूर ऐसी ही बात होगी, जब तो देखते-देखते अरबों-खरबों रुपया हवा हो जाता है और पता भी नहीं चलता कहाँ गया।

इसलिए अभी तो नगर-वधू को सजाने-संवारने की इतनी ही योजना है—अलावा सत्रह नये सिनेमाघरों को लाइसेन्स देने के, जिनसे नगरपालिका ने, नगर की सुंदरता का ख्याल रखते हुए, लाइसेन्स देते समय ही लिखवा लिया है कि उन सबका स्थापत्य अलग-अलग ढंग का होगा, किसी का मौर्यकालीन तो किसी का गुप्तकालीन, किसी का मुग़ल तो किसी का राजपूत, यानी कि कोई दो सिनेमाघर एक जैसे न होंगे, और इस तरह सिनेमाघर सब मिलकर एक मतलब में विभिन्न भारतीय शैलियों के स्थापत्य का जीता-जागता ही नहीं फ़िल्मी गीत बजाता हुआ एक अजायबघर होंगे। विदेशी सैलानियों को अब दर-दर भटकना नहीं पड़ेगा, एक ही जगह पर उन्हें सब कुछ मिल जायेगा। बात फैलते कितनी देर लगती है, फिर देखना कैसी भीड़ टूटती है अपने यहाँ, दो-चार सौ आदमी हर वक़्त डला ही रहेगा यहाँ, प्रेम से संगम नहायेगा, भारतीय स्थापत्य का गंभीर अध्ययन करेगा और विदेशी मुद्रा की अपनी थैली, जिसके बिना देश व्याकुल है, हमारे पास छोड़कर अपने घर लौट जायेगा—और नये लोगों को भेजेगा। देखना तो। अपनी नगरपालिका जो कुछ करती है सोच-समझकर करती है।

चार महीने बाद आइएगा तब देखिएगा, आँखें फटी की फटी न रह जायें तो बात नहीं। वही हाल होगा आपका जो सुदामाजी का द्वारका पहुँचकर हुआ था, शहर पहचान में ही न आयेगा, कहाँ आ गया मैं !

हाँ, कुछ जानी-पहचानी चीज़ें आपको मिलेंगी—सड़कें ऊबड़-खाबड़ और घुप-अँधेरी, बिजली की कटौती से (रोज़ जाने कितनों के दाँत टूटते हैं, जिसकी सबसे ज़्यादा शिकायत डेन्टिस्टों को है जिनका बिजनेस मारा जा रहा है, उधर नगरपालिका सुना है दाँत तोड़ने की कुछ फ़ीस लगाने जा रही है !) सड़क किनारे जगह-जगह कूड़े के ढेर और गंदे पानी के चहबच्चे, लेकिन वह एक अलग बात है। मेरी शामत कि एक रोज़ मैं एक सभासद से इसकी बात निकाल बैठा। मेरा ख्याल था कि नगर की सफ़ाई भी नगर-सज्जा का अंग है। लेकिन साहब, उन सभासद ने इसका ऐसा दंदाँशिकन जवाब दिया कि मेरे दाँत खैर टूटे तो नहीं मगर खट्टे ज़रूर हो गये। सभासद बोले—सुंदरता को सफ़ाई से क्या मतलब ? लगता है आपने धूल-मिट्टी में सनी हुई गाँव की छोरियाँ नहीं देखीं जिनके आगे हूरें भी मात हैं, और न शायद चिकनी-चिकनी, धुली-पुछी, यहाँ तक कि इस्तिरी की हुई बदसूरती की भी लाजवाब मछरियाँ देखी हैं जिन्हें जितना ही माँजो बदसूरती की उतनी ही नयी तहें निकलती चली आती हैं।... बिलकुल फ़िज़ूल बात है; सुंदरता और सफ़ाई बिलकुल अलग चीज़ें हैं। हमको ये जो रुपया मिला है, नगर की सुंदरता बढ़ाने के लिए मिला है; इसका एक छदाम भी अगर हम सफ़ाई पर खर्च कर देंगे तो ऑडिट ऑब्जेक्शन लग जाएगा। कोई खेल थोड़े ही है, सब काम ज़ाप्ते से करना पड़ता है। आप लोग समझते नहीं, बहुत तरह की मजबूरियाँ रहती हैं। इस-लिए अभी तो तीन करोड़ रुपये में—होता ही कितना है ! इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा ! आगे फिर जब कोई ऐसी ही रक़म हाथ आयेगी तब अच्छी तरह, डटकर सफ़ाई की जायेगी...

रुपये की या शहर की ? यह छोटा-सा सवाल मेरे मुँह तक आया मगर मैं तब तक सभासदजी की बातों से इतना आतंकित हो चुका था कि पूछने की हिम्मत नहीं पड़ी।

21

आँगन में बैंगन

—हरिशंकर परसाई

मेरे दोस्त के आँगन में इस साल बैंगन फल आये हैं। पिछले कई सालों से सपाट पड़े आँगन में जब बैंगन का फल उठा तो ऐसी खुशी हुई जैसे बाँझ को ढलती उम्र में बच्चा हो गया हो। सारे परिवार की चेतना पर इन दिनों बैंगन सवार है। बच्चों को कहीं दूर पर बकरी भी दीख जाती है तो वे समझते हैं कि वह हमारे बैंगन के पौधों को खाने के बारे में गंभीरता से विचार कर रही है। वे चिल्लाने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से परिवार में बैंगन की ही बात होनी है। जब भी जाता हूँ परिवार की स्त्रियाँ कहनी हैं—खाना खा लीजिए। घर के बैंगन बने हैं। जब वे 'भरे भटे' का अनुप्रास साधती हैं तब उन्हें काव्य-रचना का आनन्द आ जाता है। मेरा मित्र भी बैठक से चिल्लाता है—'अरे भाई, बैंगन बने हैं कि नहीं ?' मुझे लगता है, आगे ये मुझसे 'चाय पी लीजिए' के बदले कहेंगी—'एक बैंगन खा लीजिए। घर के हैं।' और तश्तरी में बैंगन काटकर सामने रख देंगी। तब मैं क्या करूँगा ? शायद खा जाऊँ, क्योंकि बैंगन चाहे जैसा लगे, भावना स्वादिष्ट होगी और मैं भावना में लपेट कर बैंगन की फाँक निगल जाऊँगा।

ये बैंगन घर के हैं और घर की चीज़ का गर्व-विशेष होता है। अगर वह चीज़ घर में ही बनायी गयी हो, तो निर्माण का गर्व उसमें और जुड़ जाता है। मैंने देखा है, इस घर के बैंगन का गर्व स्त्रियों को ज़्यादा है। घर और आँगन मे जो जो है वह स्त्री के गर्व के क्षेत्र में आता है। इधर बोलचाल में पत्नी को 'मकान' कहा जाता है। उस दिन मेरा दोस्त दूसरे दोस्त को सपत्नीक भोजन के लिए निमंत्रित कर रहा था। उसने पूछा—'हाँ' यह तो बताइए, आपका 'मकान' गोश्त खाता है या नहीं ? पत्नी अगर 'मकान' कही जाती है तो पति को 'चौराहा' कहलाना चाहिए। दोनों की पत्नियाँ जब मिलें तो एक का 'मकान' दूसरे के 'मकान' से पूछ सकता है—'बहन, तुम्हारा 'चौराहा' शराब पीता है या नहीं ?'

लोग पान से लेकर बीवी तक घर की रखते हैं। इसमें बड़ा गर्व है और बड़ी सुविधा है। जी चाहा तब पान लगाकर खा लिया और जी हुआ तब पत्नी से लड़कर जीवन के कुछ क्षण सार्थक कर लिये। कुछ लोग मूर्ख भी घर के रखते हैं। और मेरे एक परिचित तो जुआड़ी भी घर के रखते हैं। दीपावली पर अपने बेटों के साथ बैठकर जुआ खेल लेते हैं। कहते हैं— 'भगवान की दया से अपने चार बेटे हैं, सो घर में ही जुआ खेल लेते हैं।'

घर की चीज़ आपत्ति से भी परे होती है। आदमी स्वर्ग से इसलिए निकाला गया कि उसने दूसरे के बगीचे का सेब खा लिया था। माना कि वह बगीचा ईश्वर का था, पर फिर भी पराया था। अगर वह सेब उसके अपने बगीचे का होता, तो वह ऐतराज करनेवाले से कह देता—'हाँ-हाँ खाया तो अपने बगीचे का ही खाया। तुम्हारा क्या खा लिया?' विश्वामित्र का 'वैसा' मामला अगर घर की औरत से होता, तो तपस्या भंग न होती। वे कह देते—'हाँ जी, हुआ। अगर वह हमारी औरत है। तुम पूछनेवाले कौन होते हो?' अगर कोई अपनी स्त्री को पीट रहा हो और पड़ोसी उसे रोके, तो वह कैसे विश्वास से कह देता है—'वह हमारी औरत है। हम चाहे उसे पीटें, चाहे मार डालें। तुम्हें बीच में बोलने का क्या हक़ है।' ठीक कहता है वह। जब वह कद्दू काटता है तब कोई एतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों एतराज करते हैं? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनो उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिन्तता है। उसमें मज़ा भी विशेष है। ये बैंगन चाहे बाज़ार के बैंगन से घटिया हों, पर लगते अच्छे स्वादिष्ट हैं। घर के हैं न! मैंने लोगों को भयंकर कर्कशा को भी प्यार करते देखा है, क्योंकि वह घर की औरत है।

वैसे मुझे यह आशा नहीं थी कि यह मेरा दोस्त कभी आँगन मे बैंगन का पौधा लगायेगा। कई सालों से आँगन सूना था। मगर मैं सोचता था कि चाहे देर से खिले, पर इस आँगन में गुलाब, चम्पा और चमेली के फूल ही खिलेंगे। बैंगन और भिंडी जैसे भोड़े पौधे को वह आँगन मे जमने नही देगा। पर इस साल जो नही होना था, वही हो गया। बैंगन लग गया और वह रुचि से खाया भी जाने लगा। मेरे विश्वास को यह दोस्त कैसे धोखा दे गया? उसने शायद घबराकर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगाने के इन्तज़ार मे साल गुज़रते रहते है और फिर घबरा कर आँगन में बैंगन या भिंडी लगा लेते हैं। मेरे परिचित ने इसी तरह अभी एक शादी की है—गुलाब के इंतज़ार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।

लेकिन इस मित्र की सौंदर्य-चेतना पर मुझे भरोसा था। न जाने कैसे

उसके पेट से सौंदर्य-चेतना प्रकट हो गयी। आगे हो सकता है, वह बेकरी को स्थापत्य-कला का श्रेष्ठ नमूना मानने लगे और तंदूरी रोटी की भट्ठी में उसे अजन्ता के गुफा-चित्र नज़र आयें।

इसे मैं बर्दाश्त कर लेता। बर्दाश्त तब नहीं हुआ, जब परिवार की एक तरुणी ने भी कहा—'अच्छा तो है। बैंगन खाये भी जा सकते हैं'। मैंने सोचा, हो गया सर्वनाश। सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज़्यादा बैंगन को पसन्द करने लगी। मैंने कहा—'देवी, तू क्या उसी फूल को सुंदर मानती है, जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्ज़ी निकल आए। तेरी जाति कदंब के नीचे खड़ी होनेवाली है, पर तू शायद हाथ में बाँस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फ़र्क़ समझती ? तू क्या वंशी से चूल्हा फूँकेगी? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी ?

तभी मुझे याद आया कि अपने आँगन में तो कुछ भी नहीं है, दूसरे पर क्या हँसूँ ? एक बार मैंने गेंदे का पौधा लगाया था। यह बड़ा ग़रीब सर्वहारा फूल होता है, कहीं भी जड़ें जमा लेता है। मैंने कहा—'हुज़ूर अगर आप जम जाएँ और खिल उठें तो मैं गुलाब लगाने की सोचूँ।' मगर वह गेंदा भी मुरझाकर सूख गया। उसका डंठल बहुत दिनों तक ज़मीन में गड़ा हुआ मुझे चिढ़ाता रहा कि गेंदा तो आँगन में निभ नहीं सका, गुलाब रोपने की महत्त्वाकांक्षा रखते हो। और मैं उसे जवाब देता—'अभागे, मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाये'। गुलाब को उखाड़कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत हो, ऐसा गेंदा मैं अपने आँगन में लगने दूँगा। मेरे घर के सामने के बंगले में घनी मेहदी की दीवार-सी उठी है। इसकी टहनी कहीं भी जड़ जमा लेती है। इसे ढोर भी नहीं खाते। यह सिर्फ़ सुंदरियों की हथेली की शोभा बढ़ती है और इसीलिए इस पशु तक के लिए बेकार पौधे की रूमानी प्रतिष्ठा लोक-गीतों से लेकर नयी कविता तक में है। नेल-पालिश के कारखानों ने मेंहदी की इज्जत अलबत्ता कुछ कम कर दी है। तो मैंने मेंहदी की कुछ कलमें आँगन मे गाड़ दीं। दो-तीन दिन बाद आवारा ढोरों ने उन्हें रौंद डाला। मैं दुखी था। तभी अख़बार में पढ़ा कि किसी 'हाइड्रोइ-लेक्ट्रिक प्लांट' का पैसा इंजीनियर और ठेकेदार खा गये और उसमें ऐसी घटिया सामग्री लगायी कि प्लांट फूट गया और करोड़ों बरबाद हो गये। जो हाल मेरे मेंहदी की प्लाट का हुआ, वही सरकार के उस बिजली के 'प्लांट' का हुआ—दोनों को उजाड़ ढोरों ने रौंद डाला। मैंने इस एक ही अनुभव से सीख लिया कि प्लांट रोपना हो तो उसकी रखवाली का इंतजाम पहले करना। भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार

आप कब सीखेंगी ? मैं तो अब प्लांट लगाऊँगा, तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं है। उनमें कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के बदले, उनके आस-पास दुम हिलाने लगते हैं।

फिर भी भारत सरकार के प्लांट तो जम ही रहे हैं और आगे जम जायेंगे। उसके आँगन की जमीन अच्छी है और प्लांट सीचने को पैंतालिस करोड लोग तैयार है। वे प्लांट भी उन्ही के है। सरकार तो सिर्फ़ मालिन है।

मेरे आँगन का अभी कुछ निश्चित नही है। बगल के मकान के अहाते से गुलाब की एक टहनी, जिसपर बड़ा-सा फूल खिलता है, हवा के झोंके से दीवार पर से गर्दन निकालकर इधर झाँकती है। मै देखता रहता हूँ। कहता हूँ—तू ताक चाहे झाँक। मै इस आँगन मे अब पौधा नही रोपूँगा। यह अभागा है। इसमे बरसाती घास के सिवा कुछ नही उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक़ नही होते। 'फूलो का क्या ठिकाना'। वे गँवारों के आँगन मे भी खिल जाते है। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूंघने की तमीज नही है। पर उसके बगीचे मे तरह-तरह के फूल खिले है। फूल भी कभी बड़ी बेशर्मी लाद लेते है और अच्छे खाद पर बिक जाते हैं।

मेरा एक मित्र कहता है कि 'तुम्हारे आँगन मे कोमल फूल नही लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबद के आँगन मे जम जाय; पर तुम्हारे आँगन मे नही जम सकते। वे कोमल होते है, तुम्हारे व्यग्य की लपट से जल जायेंगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। ये तुम्हारे बावजूद पनप जायेंगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबुल तुम्हे ? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हे या तुम धतूरे को ?'

22

सुकवि सदानन्द के संस्मरण

—श्रीलाल शुक्ल

कवि न होहुं नहि चतुर प्रवीना।
सकल कला सब विद्या हीना।। (तुलसी दास)
तबहुं कविन कर आमल छीना। (सदानन्द)
हौ पण्डितन केर पछिलगा। (जायसी)
यहि विधि सकल जगत कहँ ठगा। (सदानन्द)

विफल जीवन व्यर्थ
बहा बहा,
सरस दो पद भी न हुए अहा···,
सरस है कविले तव भूमि भी;
हर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा। (मैथिलीशरण गुप्त)
सुकवि तो मुझको सबने कहा। (सदानन्द)

संस्मरण की परिपाटी पुरातन है। बाणभट्ट जैसे कवियों तक ने हर्ष-चरित के सहारे आत्मचरित लिखा है। अर्वाचीन परिपाटी और भी अलकार-मय है। सुलेखक, विमल बी. ए. राम बाबू श्यामसुन्दरदास तक ने अपनी जीवनी अपने हाथों लिखी। बाणभटट ने हर्षचरित मे अपने आवारा होने से उच्चकोटि के कवि होने तक का वर्णन किया है। अर्वाचीन परिपाटी में कवि होने से आवारा होने तक का वर्णन हो तो वह आदर्श जीवनी हो जायेगी। अपने विषय मे वही करना हूँ।

अर्वाचीन शैली में शरीर-सज्जा के वर्णन से ही संस्मरण प्रारम्भ करने का चलन हैं। यथा—

शरीर से दुर्बल, देखने में दरिद्र, एक आँख चमकती हुई एक आँख मुँदी हुई, मूंछें छोटी-छोटी और अकिंचन—ऐसे हैं बाबू!

उसी प्रकार अपनी अनेक स्थितियों के छह चित्र पाठकों की भेंट करता हूँ।

लंगोटी लगाये हुए, तन पर भस्म मले हुए, रूखे बाल, फलाहारी— अर्थात् आम का रस हाथ में और जामुन का रस मुँह पर पोते हुए) कृष्णा-नुरागी (अर्थात् काले-कलूटे), गोरक्षक (अर्थात् गाय बैलों की चरवाही करते हुए) शुकदेव समान (अर्थात् दस वर्ष की आयु मे ही जंगल में घूमनेवाले) परम प्राकृत रूप—यह मेरी बाल्यावस्था थी !

लुंगी बाँधे हुए, भुजाओं में काला तावीज और गले में काला डोरा डाले, शरीर पर कड़ुए तेल की मालिश किये, भंग पिये, भग पीनेवालों से घिरे, भंग घोंटते हुए, कड़कती आवाज़ मे कवित्त-सवैयों का परायण करते हुए, गुरुसेवा में तल्लीन—यह किशोरावस्था थी।

बढ़िया तावदार, पेचदार मूँछों से शोभित मुखमण्डल, रगीन साफा जोधपुरी कोट, चूडीदार पायजामा, ताम्बूल-वर्ण-सिद्ध कण्ठ से नायिकासेवी सवैयों का गान, छन्द को अयाचित रूप से दो बार सुनाने का नियम—यह पूर्व-युवावस्था थी।

गाँधी टोपी, कुरता, धोती, चप्पल, घड़ी, झोला। जो सच है, उसे सच बताते हुए, 'सत्य से लाभ', 'पुरुषार्थ की महिमा' 'आशा और निराशा' आदि विषयों पर कविता लिखते हुए—यह मेरी उत्तर-युवावस्था थी।

फिर, समय की शिला पर मधुर चित्र बनाते हुए, नीर भरी दुःख की बदरी बरसाते मन को मधुर-मधुर तपने का उपदेश देते हृतन्त्री के तार क्षितिज के उस पार को भी झंकार कर, क्षीणकाय, क्षीणकटि, जटिला, कुंचितकेशी, मधुवेशी रूप मे काव्य-सर्जना करते हुए—यह प्रौढ़ावस्था थी।

और अब वेश से काव्य-निर्देश होना सम्भव नही। प्रगति, प्रयोग, नव काव्य (नयी कविता)—सब गड़बड़ हो गया है। फिर भी :

रूखे बाल, टूटे चप्पल, फटा कुरता, बिना स्याही की फाउण्टेन पेन, मोटे फ्रेम का चश्मा।

अथवा, बिलकुल नया सूट, दोषहीन अंग्रेजी भाषा, चमकते जूते, वकीलों-सी तार्किकता, डॉक्टरों की-सी सहानुभूति, बीमा एजेण्टों की-सी चतुरता, बातचीत मे कथा-वाचकों की-सी असम्बद्धता—यह अब वृद्धावस्था मे झेल रहा हूँ।

मैं सदानन्द था। सदानन्द हूँ। इसका रहस्य नये कवियों के लाभार्थ बता रहा हूँ।

प्रारम्भ में गुरुदेव ने सवैया-घनाक्षरी का मुख दिया। तब कवित्त लिखने के विषय खोजने न पड़ते थे। वे बोले, 'मुग्धा पर लिखो। सवैया छन्द हो।

सिंहावलोकन का सत्कार हो। छेकानुप्रास की छटा हो। रूपक का रमण और उत्प्रेक्षा का उल्लेख हो।' दिन भर मगण के लघु-गुरु का नक्शा बनाकर क्रास-वर्ड पहेली-सी भरते रहे। शाम को गुरुदेव ने वह पूरा सवैया फाड़कर फेंक दिया और उसके स्थान पर एक दूसरा लिख दिया। मेरी काव्य-साधना सफल हुई।

समस्या-पूर्ति में और भी सुख था। किसी ने समस्या दी, मैंने उसकी पूर्ति दी, 'पिपीलिका चुम्बत इन्दुकी बिम्बै' मिल गयी तो 'बिम्बै' से लेकर 'जिम्बै' तक खींच ले गये। इस प्रकार चार तुक निकलकर पिपीलिका को इन्दु तक ले जाने का उपक्रम करने लगे। साधना कठिन थी पर पिपीलिका की साधना सर्वविदित ही है। वह असली इन्दु तक न जा सके तो नायिका का मुख भी तो इन्दु ही है। नायिका के सो जाने पर पिपीलिका को वहीं पहुँचा दिया इन्दु को बिम्बै दिखा दी। आगे पिपीलिका की गति पिपीलिका जाने और नायिका की जाने नायिका।

एक रेलवे के बाबू थे। रायबरेली जिले के रहनेवाले, जाति के दुबे। महावीर प्रसाद नाम था। उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। उसके बाद कविता के स्टेशन पर आकर नायिका-भेद, सवैया-घनाक्षरी आदि की लाइन पर लाल-झण्डी लेकर बैठ गये, खड़ी बोली का लाइन-क्लियर देकर सीटी बजाने लगे। प्रयाग में सीटी बजायी तो चिरगाँव तक उसकी गूँज गयी। मैंने गुरुदेव से कहा, 'मैं भी इसी लाइन पर जाऊँगा।'

वे बोले, 'तरवारि की धार पै धावनों है।'

पर मैंने लाइन बदल दी। यहाँ और भी सुख था। जैसे कोई आकर कहे, 'इस डिब्बे की चैन फिट कर दो।' वैसे ही एक पत्र ने आकर कहा, 'वर्षा अक के लिए, 'हरी घास' पर कविता लिखो। 'मानो' का प्रयोग हर तीसरे चरण में हो, इसे उत्प्रेक्षा समझो। द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग हो।'

यह काम बड़े आराम से चल रहा था कि एक दिन कहीं पढ़ा,

"विजन निशा निरवधि नभ शीतल,
तुहिन, कुसुम, विभ्रम, सत्कार।"

न भाषा समझ में आयी न भाव। लगा कि जिस लाइन पर मैं जा रहा था वह छोटी लाइन है। उसी के पास से बड़ी लाइन पर एक गाड़ी बिना दुबे जी से लाइन-क्लियर माँगे निकल गयी।

मुझ सदानन्द को क्या चिन्ता? कवि कहाने की चाट लगी थी। कि (यशः प्रार्थी) सीधे प्रयाग गया। एक वय किशोर, कोमल तन, परम सुखद कवि मिले। गुरुदेव का पत्र आया कि रहस्यवाद का जाल जटिल है। मैंने

अपने नये गुरु की जटाओं का उल्लेख करके लिखा कि कविता के उत्स कहाँ से फूटे है।

अब कालिदास-ग्रन्थावली लेकर शब्द खोजने बैठे। आवर्जित, संचारिणी, पल्लविनो, श्लथ, विश्लथ, निहार—जो भी शब्द स्त्रैण जान पड़ा, उसे रट लिया। उपसर्ग का प्रयोग सीखा—शम का उपशम, क्रान्ति का सक्रान्ति, हार का प्रहार, आहार, संहार, विहार—सब रटकर जो कविता लिखी तो पूरी लाइन पर डाक गाड़ी की गमक गूंजने लगी।

एक दिन समाचार सुना कि प्रगतिवाद के दफ़्तर में भरती का काम जारी है।

लड़ाई के दिन थे। देश के हज़ारों नौनिहाल खन्दकों मे पड़े सड़ रहे थे मैने भी दफ़्तर मे जाकर अपना कार्ड बनवाया। हवलदार ने नसीहत दी, 'ये जनाना किसम की कविता नही चलेगा। जोश-खरोश की बात लिखना होगा। मजदूर भूखा है, किसान नगा है, पूंजीपति पेटू है। तुम कुछ जानता भी है ?

हाथ जोड़कर मैंने कहा, 'सोइ जाने जेहि देहु जनाई।'

उस दफ्तर मे बारह साल काम करते-करते एक दिन जान पड़ा कि मजदूरों और किसानों की समस्या हल हो गयी क्योंकि उसी दिन ये स्वर सुन पड़े :

सुनो, कैरा सुनो,
क्या मेरी आवाज···।

उसी दिन मैने एक विस्तृत पत्र मे अपने गुरुदेव को पूरी बात स्पष्ट रूप से लिखी,

'सुनो, गुरुदेव सुनो,
क्या मेरी आवाज तुम तक पहुँचती है ?'

मै अब प्रयोग करने लगा हूँ। मैने आज एक कविता में अस्पताल का प्रयोग किया है। डिसइन्फेक्टेण्ट, ऐण्टीबायटिक्स, ऐनीस्थीसिया, क्लोरो-माइसिटीन आदि शब्द कल सीखे थे। इनका इस्तेमाल इस कविता में आज दिखाया है। अब एक कविता मुझे रात के झिलमिल तारों पर लिखनी है। उसमें इजीनियरी का प्रयोग करना पड़ेगा। गुरुदेव, बचपन मे सड़क कूटने के कारण, दरेसी, गैंग, मेट आदि शब्द तो मुझे आते हैं पर कोई लम्बा शब्द याद नही है। सुनते हैं ट्यूबवेल बनाने की मशीन मे कई पुर्जों के अद्भुत नाम हैं ! आप किसी मिस्त्री से पूंछकर लिख भेजने की कृपा करे।

साथ ही साथ, गुरुदेव—अब नयी कविता का नाम भी सुनने में आने लगा है। पर इस मोर्चे पर भाग्य, 'मारेसि मोहि कुठाँउ'। नयी कविता लिखने

के लिए सुनते हैं, पढ़ना और सब पढ़कर फिर ऐसा लिखना पड़ता है कि कवि के पढ़े-लिखे होने का आभास तक न मिला। सो, गुरुदेव बड़ाई की बात सुनते ही, 'सीदन्ति मम गात्राणि, वेपथुश्चोपजायते'। मुँह सुख रहा है, राह नहीं दीख पड़ती। कुछ बताइये कि अब क्या करें? और क्या लिखें।

आप कहते हैं कि बार-बार अपने को बदलकर मैंने बुरा किया। गुरुदेव, मुझे इसी गुण के कारण आलोचक समन्वयवादी कहते हैं। आपने अवसरवादी शब्द का प्रयोग अशुद्ध रूप मे किया है। राजनीति का यह शब्द साहित्य में प्रयुक्त नहीं हो सकता। आपने ही सिखाया था, 'काव्य यशसे'—सो जहाँ जैसा यश मिला, वहाँ वैसी कविता की। 'अर्थकृते', अतः जहाँ दो पैसे का डौल लगा, वहाँ जाकर काव्य लिखा। यह शास्त्रोक्त कर्म था, इसमें कौन-सा कुकर्म है, गुरुदेव?

'और सच तो यह है कि मेरी कविता बदली पर मैं नही बदला। 'जग बदलेगा, किन्तु न जीवन।' सदानन्द था, सदानन्द रहा। सवैया लिखकर भी 'सदेश' नही बना। 'सरस्वती' में छन्द छपाकर भी सदानन्द-शरण नही कहलाया; सरस्वती प्रेम तक जाकर भी 'कामरेड सिद्ध' नही हुआ। अब नयी कविता लिखूंगा पर सदानन्दायन नहीं बनूंगा। यश बढ़ता रहे, अर्थ बढ़ता रहे, राजसम्मान बढता रहे पर नाम वही का वही रहेगा। इसी मे आनन्द है। सदानन्द हूँ, सदानन्द रहूंगा।

23

कौन तू फुलवा बीननिहारो

—विद्यानिवास मिश्र

आगरे मे आकर मै कालगणना भूल गया हूँ, केवल इतना जानता हूँ कि अब साढ़े दस बजते है, क्योंकि तब कहने को डाइरेक्टरी पर हकीकत मे क्लर्की के कर्म कूटने विद्यापीठ आना रहता है, उसके बाद घड़ी समय बताती रहती है । शाम को घर लौटने पर तनमन दोनो इतने निढाल हो जाते है कि सारा नक्षत्रलोक विपर्यस्त हो उठता है, गोधूलि, अनुरागवती सध्या, ध्वान्त, प्रदोष और निशीथ के अन्तर धूमिल हो जाते है, ऐसे मे बस भुतहे सपने आते है, लिखना तो होता नही, आसपास के लोग अपरिचित, काल की गति अलख, शहर की सडके अनदेखी और भाग्य-चक्र ऐसा कम्पमान कि अपने हाथ मे निर्णय होते हुए भी यह आभासित नही हो रहा कि अगला परिवर्तन होगा किस ओर, आगे की ओर, पीछे की ओर कि आगे पीछे सीधी राह न जाकर वही दाये बाये किसी गर्त्त की ओर या किसी अधिक सुरक्षित स्थान की ओर, ऐसी स्थिति मे वृन्दावन की पुकार सजीवनी का काम करती है ओर उसने किया । एक दिन दिल्ली मे देवोत्थान एकादशी मनाने मथुरा उतरा । मथुरा के घाट और गलियो मे आहिंडन करते-करते रात हो आयी, कोई सवारी नही मिली कि वृन्दावन जाये । रात मे तो हालत यह हुई कि छत्ता बाजार की सडक पर थके पैर निरुद्देश्य इसलिए घूमना पडा कि कमरे की चाबी लेकर गृहस्वामी बरात चले गये थे और जेब मे रिक्शा किराया भर को पैसा नही बचा था । हलके हाथ वालो के भय से फूलमाला और चढावे के अतिरिक्त कोई पैसा पास रखा नही । वृन्दावन विहारी से मन खीझ गया । और दूसरे दिन सवेरा होते ही बस स्टेशन आकर सीधे आगरे आया उसी कालचक्र मे एक कील बनकर घुमरी लेने ।

पूरे चौबीस घण्टे भी नही बीते कि वृन्दावन से पुकार आ गयी । मन मे अभी खीझ तो थी, पर सोचा वृन्दावन-विहारी बहुत तुनुकमिजाज है, किसी ब्याज से बुलाया है, हो आये । गया, पर कुछ ऐसा कार्यक्रम बना कि पहुँचने

में देर हुई, फ़ुरसत से वृन्दावन देखना नहीं हुआ। फिर छः सात दिन बाद सुयोग आया और इस बार केवल वृन्दावन ही देखता रहा, वंशीवट, गोपीश्वर, निधुवन, सेवा-कुंज, राधारमण जी, बाँकेबिहारी जी, गोविन्द जी, रंग जी। सबसे अधिक मन रमा स्वामी हरिदास की समाधिभूमि, निधुवन और हितहरिवंश जी की साधनास्थली सेवाकुंज में। दिन में ये स्थान सनातन वृन्दावन के द्वीप लगते ही हैं, रात में तो फिर एक-एक रेणुकण में यही रस-सिन्धु उमड़ आते हैं। दूसरी बार चाँद निकलते-निकलते जैसे-तैसे मन्दिर बन्द होने की तैयारी के समय पहुँचा था, तभी यह लगा कि वृन्दावन को सचमुच नित्यलीला-निकुंज हैं। दूसरी वृन्दावन-यात्रा में अनायास स्वामी अखण्डानन्द जी का सान्निध्य प्राप्त हो गया। स्वामी जी भक्तित्व के सहृदय व्याख्याता हैं। उनकी भाषा भी सहज और रसामय होती है। प्रातः काल वे राधाभक्ति की व्याख्या कर रहे थे, इतने में मुझे लेते हुए एक मूर्ति आगे आकर बैठ गयी। मैंने सोचा कोई बंगालिन होगी। क्योंकि आगे मुँह लगभग ढँका था, पीछे एक पाट का झोला, जोगिया वस्त्र नीचे से ऊपर तक चाल में बड़ी फुर्ती। कथा समाप्त हुई तो उस मूर्ति ने अपने हाथ से एक एक लौंग का टुकड़ा बाँटना शुरू किया। स्वामी जी ने एक और माँगा, उन्हें दे तो दिया, बरजने की मुद्रा बनायी, अब नहीं, तब देखा कि आपादमस्तक धवल कोई बूढ़ा बाबा है। स्वामीजी ने बतलाया—ये फूलचोर बाबा है। सौ के आसपास होंगे, इनकी जैसी सुन्दर माला किसी के देखने सुनने में नहीं आयी, पर माला चुराये फूलों की ही बनाते हैं। अब तो हाथ काँपते हैं, तो भी चोरी फूलों की करेंगे ही और चोरी के फूलों से ही बाँकेबिहारी जी की पूजा करेंगे, जाने कितनी प्रतारणा अपनी इस बानि के कारण सही पर नियम यही रहा कि चोर की पूजा चोरी से हो। स्वामी जी इनकी कथा सुन ही रहे थे कि फूलचोर बाबा ग़ायब। और मेरे प्राणों में जाने जो क्यों सूर का एक पद गा उठा—'हरि तू फुलवा बीननिहारी'। यह पद पूज्य भैया साहब के यहाँ टेप पर सुना था। मन्दिरों में होली के समय गाया जानेवाला पद है। सूरसागर के उपलब्ध संस्करणों में यह पद नहीं मिलता पर श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के मदिरों में गाया जा रहा है। और इसकी भी वाक्य योजना तथा शब्द योजना सूर की प्रतीत होती है, इसलिए इसे सूर का ही होना चाहिए। और सूर का नाम भी हो, उस विवाद में कौन पड़े, इस पद मे वृन्दावन की निकुंजेश्वरी झाँक रही है। राधा फूल चुन रही हैं और कृष्ण देखते हैं कि कुंज कुछ नया हो गया, उसको उसकी अधीश्वरी मिल गयी है। इसीलिए पूछते हैं अरी तू कौन फूल चुननेवाली यहाँ आ गयी। अभी तो मैं ही फूलों वाले देवता मदन का भी मोहन था। चोरों का चोर था, छलों का

छल था। मेरी चोरी करनेवाली कहाँ से आ गयी ? मन में यह पद गूँजा। इसके सन्दर्भ में उधरे और फिर लगा, वृन्दावन पर अपना एकाधिकार मानने वाली नित्यप्रिया अपने ही निकुंज में क्यों चोरी-चोरी फूल बीन रही है ? यह फूलचोर बाबा क्यों चोरी के फूलों से माला गूँथने में ही अपनी उपासना चरितार्थ मानता है ? कौन-सा वह नैतिक विधान है, जो इस चोरी को स्पृहणीय धर्म बना देता है ? कैसा अटपटा यह देश है, जिसके परब्रह्म स्वय चोर हैं, जारशिखामणि हैं ?

मेरे एक अध्यापक थे, बड़े एकनिष्ठ आर्यसमाजी, मुझसे विनोद में कहते, देखो तुम्हारा ईश्वर तो अपने नैतिक विधान में बड़ा शिथिल है अपने हमारा ईश्वर अलबत्ता कड़ा है। क्या सचमुच हमारा कन्हैया नैतिक विधान में है। क्या फूलचोर बाबा चोरी की सजा के अधिकारी हैं; क्या अपने ही निकुंज में चोरी से फूल चुननेवाली नित्य निकुंजेश्वरी प्रिया जी का प्यार वर्जनाओं के दायरे से बाहर है ? ये प्रश्न उस समय उठे तो क्षण के लिए ज़रूर, पर मैंने स्वामी जी से भी कुछ पूछा नहीं। मन के कोने में प्रश्नों को डाल दिया।

कुछ दिन बीते फिर वृन्दावन ने पुकारा। सूरपचशती समारोह में आये अतिथियों के साथ साथ मथुरा वृंदावन जाना हुआ। पौष की पूर्णिमा रही होगी। पहुँचते ही सामान कहीं बिना रखे हम लोग घुमाये जाते रहे। मथुरा सग्रहालय में ही स्वागत-सत्कार मे शाम हो गयी, फिर दर्शनों के लिए चले तो निधुवन पहुँचते-पहुँचते सात बज गये। मन्दिर क्या कुंज बंद होने जा रहा था। बस हम लोगों की खातिर पुजारी जी कुछ और बिलम गये। पूस की पूनी का चाँदनी न कुआर-कातिक की तरह पिघली हुए रुई की तरह तरल उज्ज्वल होती है, न चैत की तरह टहकदार और गन्ध मदमाती जिसके बारे में द्विजदेव ने कहा—

'चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चन्द' (चाँदनी के भार से चाँद झुका दिखता है)। वह होती है एकदम मलाई की तरह गाढ़ी और अनफेंटी मलाई की तरह। उसमें उजास तो रहती है पर पारदर्शिता नहीं रहती। यह ज़रूर है कि यह चाँदनी वस्तुओं को खोलती नहीं, पर्त दर पर्त रहस्य में लपेटती रहती है। ऐसी चाँदनी हाथ पैर पसारने लगी थी। उसकी जादू की पिटारी का ढक्कन खुल रहा था। निधुवन मे छोटे-छोटे बौने कुंज बस ज़मीन की ओर नजर किए हुए जैसे बालू के हर कण की अलग-अलग रंगत पहचानने की कोशिश कर रहे हों, जैसे प्रिया-प्रीतम के युगल विहार के क्षण की बाट जोह रहे हों, जैसे उस बालू के भाग्य के लिए तरस रहे हो कि प्रिया-प्रीतम के चरण तो उसी पर पड़ रहे हैं और रस का उद्वेलन उसी सिकता में हो

रहा है, हम तो बस निरे द्रुम हैं, कभी हम उन दोनों के बीच में आकर विरह की दुरन्त बाधा बन जाते हैं, कभी उनकी उलझी बाँहों के इर्द-गिर्द अपनी बाहें डालकर मिलन में भी शूल बन जाते हैं। कभी निभृत रस के साक्षी बन कर निभृत एकान्त के अन्तक बन जाते हैं। निधुवन में तमाल के छोटे-छोटे कुंजनुमा पेड़ों के बीच में निरी रेत है, ऐसी रेत जिस पर क्षीर-सिन्धु तक न्योछावर। एक कोने में स्वामी हरिदास जी की समाधि है, कहा जाता है उनके ठाकुर बाँकेविहारी जी यही प्रकट हुए थे। पहले उनके पास कोई विग्रह नहीं था। चैतन्य सम्प्रदाय के जीव गोस्वामी जी के द्वारा याद दिलाने पर स्वामी जी सोचने लगे। इतने में दायें हाथ पर श्री कृष्ण और बायें हाथ पर राधा दोनों प्रकट हो गये और नाचने लगें। साथ-साथ दोनों हाथ भी नाचने लगे और दोनों के हाथ मिले। ठाकुर-ठाकुरानी मिले। एक विग्रह रह गया। वे ही श्री बाँकेबिहारी जी हैं। श्री स्वामी हरिदास जी ने इसी स्थान पर समाधि ली। यह स्थान नित्य युगल बिहार का स्थल कहा जाता है। रात में यहाँ कोई नही आ सकता। आये तो वह पागल हो जायेगा। नित्य विहार देख सकना बस परमहंस के ही बूते की बात है। लोगों ने बताया बहुत से लोग देखने की ज़िद करके पागल हो गये ! किसी ने यह भी कहा कि शिव जी रात-रात बाहर दरवाज़े पर धरना दिये रह गये। भीतर नही जाने पाये अन्त में गोपी बने पूरे तन मन से, तब उन्हें अनुमति मिली। उस पूनों के पहले पहर में उस समूचे वातावरण में यह सब स्मरण करके मन सचमुच पागल हुआ जा रहा था तबतक मेरे किसी मित्र ने पुजारी जी से पूछा कि स्वामी जी कैसे रहे, वे तो पुरुष थे। पुजारी ने बताना शुरू किया कि वे ललिता सखी के अवतार थे। फिर उन्होंने ललिताजी के उधव की कहानी सुनायी—एक दिन राधिका जी ने सोचा मेरे जिस रूप पर भगवान इतना रीझते है उसे मैं भी निहारूँ और मुकुर मे अपना मुँह निहारने लगी। सुधि भूल गयी कि पीछे भगवान अपनी मुग्धाप्रिया का यह भाव निहार रहे हैं और वे अपना मुँह निहारती रहीं। निहारते-निहारते मुँह और सुन्दर होता गया। इतना सुन्दर हो गया कि उस सौन्दर्य को देख कर राधिका मूच्छित हो गयी। भगवान उन्हे पानी के छींटों से होश में लाये और फिर भगवान ने उस मुँह को निहारा और उन्हे भी लगा कि प्रियाजी इतनी सुन्दर हैं। इस बीच प्रिया जी का वह प्रतिबिम्ब जिसको निहारते-निहारते वे इतनी सुन्दर हुई, साकार हो गया। वही प्रतिबिम्ब ललिता जी हैं। कहानी सुनते-सुनते विचार बहने लगे तो यही ललिता है प्रिया-प्रीतम के नित्य नये होते आकर्षण की अधिदेवता। उनका काम है प्रिया को स्मरण कराना कि तुम्हारा सौन्दर्य तुम्हारे प्रीतम को

प्रिय लगने के कारण सौन्दर्य हैं और प्रीतम को स्मरण कराना कि प्रेम के स्मरण से जो सौन्दर्य जन्म लेता है, वह अपूर्व प्रेम का विषय बनता है। इस प्रकार ललिता जी के कारण यह सनातन प्यार द्वैत से अद्वैत और अद्वैत से द्वैत की ओर दोलित होता रहता है। आज भी पाँच शताब्दियों से स्वामी हरिदास जी की संगीत-लहरी केवल प्रिया-प्रीतम को ही नहीं, प्रिया प्रीतम के प्यार को प्यार मात्र से जोडने में लगी हुई है।

पुजारी जी ने प्रसाद दिया। विचार का प्रवाह रुका और लौटने की लाचारी आयी। लौटते समय एक बार फिर उस कुंज की ओर झाँका। कहीं फूल चुनने पहुँच तो नहीं गयी 'फुलवा बीननिहारी' और कहीं उन्हें छेड़ने नित्य निकुंज बिहारी भी तो नहीं पीछे से आ गये और उन्होंने चौंका दिया—हेरि कौन तू फुलवा बीननिहारी। युगों-युगों का परिचय और ऐसे अपरिचय का प्रश्न—कौन तू। पर इस बेतुके प्रश्न में एक तुक है। जब राधा चोरी से फूल चुनने आती हैं, यह भूलकर कि निकुंज तो मेरा ही है तब उनके भीतर एक नयी राधा जन्म ले चुकी है, जो अपने को पराया मान कर डरती-डरती फूल चुन रही है। श्री कृष्ण का ऐसी राधा से ऐसा प्रश्न ठीक ही है। मुझे पूरा यह याद नहीं रहा कि भैया साहब का टेप मथुरिया श्री गंगानाथ चतुर्वेदी के जाल में ऐसा फँस गया है कि न टेप की नक़ल मिली न उसका लिपिबद्ध रूप। गंगानाथ जी के स्मृतियों के जटाजूट से इस पद-गंगा का उद्धार अभी तक नहीं कर पाया। इतना याद है कि यह पद का अन्त विरह रस के उमड़ने में और उसके टारे जाने में होता है। इसमें भी तुक है। 'बूझत श्याम कौन तू गोरी' का अन्त 'बातनि मुरइ राधिका भोरी' में होता है, वहाँ भी विरह है, राधिका जी का अपने उस अल्लड़पन से जिसमें रहते हुए उन्होंने कहा था कि 'सुनत रहत नन्द को ढोटा करत रहत माखन रस चोरी'। सुनती रही हूँ कि नन्द का एक छोकरा है, जो माखन की चोरी करता फिरता है। पर यहाँ उस अवस्था के और आगे की विरहावस्था की भूमिका है। फूल चुननेवाली जो आत्मीय होकर भी परायेपन का भय लिये आयी। पैदा तो हो गयी उसके परायेपन के वृन्त से चुन लिये जाने की सम्भावना है। परायेपन की उद्दीपना छिन जाने का खतरा है। प्रीतम ने नित्य कुंजेश्वरी के परकीया भाव को बेनकाब कर दिया है।

पर यह सब तो मैं आज सोच रहा हूँ। उस दिन नहीं, नहीं। उस रात तो ऐसा अनुभव हुआ कि सह नहीं पाऊँगा। न यह चाँदनी, न यह निकुंज, न यह रस-सिक्त सिकता का विस्तार, न यह कथा और न सूर के पद की यह टेक—हेरी कौन तू फुलवा बिननिहारी। लगा वहीं ढह जाऊँगा। रेत हो जाऊँगा। पेड़ खड़े हैं खड़े रहे, मुझसे तो खड़े नहीं रहा जायेगा। पर

बस वह अनुभव एक पल रहा। फिर तो कुंजों में बानरों की किलकारी ने रसस्वप्न नष्ट कर दिया। कुंज से हम लोग बाहर हुए। अन्य मन्दिरों में जाकर भगवान के दर्शन किये और काफ़ी रात गये अपने बिस्तरों में समाये। पर उस एक पल का वृन्दावन बिसराये नहीं बिसरता।

जो प्रश्न मैंने मन के कोने में डाल दिये थे, वे प्रश्न इस अनुभव के बाद एकदम मूक हो गये। चोरी और चोरी का प्यार पर चोरी के चोर से जुड़ जाँय। जब जिनसे नैतिकता परिचालित होती है ऐसे परात्पर ब्रह्म के चरणों में अनैतिकता फूल बनकर महक उठे, जब अहं को विगलित करनेवाले परायेपन को भी अपने प्यार की आँच में द्रवित करनेवाले प्रीतम के गले में वर्जनाएँ माला बनकर लिपट जाये तो फिर वे चोरी कहाँ रही, चोरी का प्यार कहाँ रहा बल्कि उल्टे चोरों के चोर, दुरावों के लुटेरे हृदय के स्निग्धतम नवनीत के चाखनहार को रिझाने की बात है, तो उन्ही का तरीक़ा अपनाना चाहिए, अपनी चोरी की बानि उन्ही के लिए अर्पित करनी चाहिए और अपने अन्धत्व मोह को उन्हीं के प्रति मोड़ देना चाहिए, तभी चोरी चोरी न रह जायेगी, विराट अस्तित्व के साथ बरजोरी छोड़कर मानव चित्त का विस्तार बन जायेगी और अन्धतम मोह मोह न रह जायेगा वह प्रकाशों के प्रकाश का मुकुर बन जायेगा। केवल एक शर्त है, यह चोरी एकनिष्ठ हो, यह मोह एकनिष्ठ हो और यह सही है कि निष्ठुर पुरुष चित्त से नहीं होती, होती है पुरन्ध्री-चित्त में, नवद्वारों वाली जो यह शरीररूपी नगरी है, इस पूरी नगरी को अपने लावण्य से उद्भासित करने और अपने वात्सल्य से परियोषित करनेवाले चित्त से ही यह एकनिष्ठता सधती है। वैष्णव भक्तों ने गोपीभाव को इसलिए परमभाव माना है, उस गोपी में भी आठ सखियों का भाव उत्कृष्टतर है, क्योंकि वे नित्य ईर्ष्यारहित होकर प्रिया-प्रीतम के विहार में साझीदार हैं। उनके सयोग से सयुक्त है उनके वियोग से वियुक्त। इन सबमें उत्कृष्टतम है राधाभाव, नित्य-प्रियाभाव। श्रीकृष्ण युगों बाद कुरुक्षेत्र मे सूर्यग्रहण के अवसर पर गोपियो से मिलते हैं, राधा से भी मिलते हैं पर राधा हैं कि मिल नहीं पातीं, मिलने की खुशी मे इतना आनन्द आँसू बनकर उमड़ आता है कि आँखें उन्हें देख नहीं पाती। बाँहे उन्हे भरने को उठती हैं, पर आनन्द की आकस्मिकता में ऐसी कम्पमान रहती है कि उन्हे बाँध नहीं पातीं हैं। बातों से यह भी इस मिलन में सभव नहीं हो पाता और यह कहें कि चित्त से चित्त ही मिल जाय, तो वह भी विरह मे स्थिरभाव चित्त मिलन के संक्षोभ से ऐसा बेसँभाल चचल हो जाता है कि उसका मिलनोन्मुख होना भी असम्भव हो जाता है। इस तरह इतने दिनों बाद ऐसे यकायक मिलना भी विछोह बन जाता है। राधा-भाव की परिभाषा ही है प्रीतम से अधिक प्रीतम के प्यार मे जीना, इस

प्यार में स्थिरता इस माने में रहती है कि यह प्यार निरन्तर बेचैनी है। यह हो सकता है कि श्रीराधा नित्य नयी हैं। तन से अधिक मन से, श्रीकृष्ण नित्य नये हो। स्वयं नित्य नये हो सकते हैं, इसलिए नहीं बल्कि इसलिए कि राधाचित्त का ही श्रीकृष्णमय विवर्त्त होता रहता है, उस रूप में श्रीकृष्ण इसलिए नये होते हैं कि अपने आप वे निष्ठुर भी रहते पर राधाचित्त के श्रीकृष्णाकार होने के कारण वे उसी राधा के लिए व्याकुल होते हैं। जिस तरह श्री राधा श्रीकृष्ण के लिए होती हैं क्योंकि व्याकुलता तो उस चित्त का स्वभाव है। वह चाहे राधाभाव हो चाहे श्रीकृष्णमय।

प्रिया-प्रीतम का जो निधुवन मैंने उस रात देखा था वह रात नहीं थी मेरे लिए वास्तविक दिन थी। वह वस्तुतः इन दो चित्तों का निधुवन है। राधाचित्त श्री कृष्णचित्त से उन्मथित होता है, श्रीकृष्णचित्त राधाचित्त से, इसी लिए इसे निधुवन को विषयासक्त चित्त समझ नहीं पाता है और समझे भी तो भी सह नहीं पाता, वह विषय को विषयी बनते देखकर घबरा उठता है। यह क्या हो गया नर का नारी के लिए और नारी की नर के लिए जैव उत्तेजना पानी होती जा रही है और कोई सुख पाने का आग्रह अँजुरी में फूल बनता जा रहा है। विषयरूप संसार ही उल्टा जा रहा है, लगता है वही विषयी हो। वही प्यार करनेवाला हो, हम विषय है उसके प्यार के। उस एक रात एक पात फूल बीननेवाली ने मुझे फूल की तरह बीन लिया और वहीं से लौटने पर फूल-चोर बाबा मन में चोर की तरह पैठ गया। बाद में कई बार गया, उस बाबा का पता किया, पता नहीं चला। निधुवन भी गया पर फूल चुननेवाली की स्मरगरल खण्डन चरणनख रंजित रेणु ने फिर नहीं चित्त रँगा। नहीं रँगा तो क्या हुआ। रंजित होने की वासना उस रात या ठीक-ठीक अब कहूँ उस दिन चित्त में बसी समझता हूँ आगरे को आना सफल हुआ, कम से कम एक पल को तो पागलपन का ज्वार आ गया जिसमें मलाईनुमा चाँदनी सचेत सनातन प्रिय बन गयी और मैं बन गया उनकी अंजुरी में गिरी हुई कली नहीं, फूल तोड़ते समय टूटा हुआ पत्ता। जानता हूँ मैं चढूँगा नहीं उनके प्रीतम के चरणों पर, मैं फेंके जाने पर चिल्लाऊँगा तो सही—हेरी कौन तू फुलवा बीननिहारी।

24

ठेले पर हिमालय

—धर्मवीर भारती

'ठेले पर हिमालय'—खासा दिलचस्प शीर्षक है न। और यकीन कीजिए, इसे बिलकुल ढूंढना नहीं पड़ा। बैठे-बिठाये मिल गया। अभी कल की बात है, एक पान की दूकान पर मैं अपने एक गुरुजन उपन्यासकार मित्र के साथ खड़ा था कि ठेले पर बर्फ की सीलें लादे हुए बर्फवाला आया। ठंडी, चिकनी, चमकती बर्फ से भाप उड़ रही थी। मेरे मित्र का जन्मस्थान अल्मोड़ा है। वे क्षण भर उस बर्फ को देखते रहे, उठती हुई भाप से खोये-खोये से ही बोले, 'यही बर्फ तो हिमालय की शोभा है।' और तत्काल शीर्षक मेरे मन में कौंध गया, 'ठेले पर हिमालय'! पर, आपको इसलिए बता रहा हूँ कि अगर आप नये कवि हों तो, भाई इसे ले जायँ और इस शीर्षक पर दो-तीन सौ पंक्तियाँ बेडौल, बेतुकी लिख डालें—शीर्षक मौजूं है, और अगर नयी कविता से नाराज हों, सुललित हों तो भी गुंजाइश है, इस बर्फ को डाँटे, "अब उतर आओ। ऊँचे शिखर पर बन्दरों की तरह क्यों चढ़ी बैठी हो? और नयी कविता! ठेले पर लदो! पान की दूकानों पर बिको।"

ये तमाम बातें उसी समय मेरे मन में आयीं और मैंने अपने गुरुजन मित्र को बतायी भी। वे हँसे भी, पर मुझे लगा कि वह बर्फ वहीं उनके मन को खरोंच गयी है और ईमान की बात यह है कि जिसने पचास मील दूर से भी बादलों के बीच नीले आकाश में हिमालय की शिखर-रेखा को चाँद-तारों से बात करते देखा है, चाँदनी में उजली बर्फ को धुँध के हलके नीले जाल में दूधिया समुद्र की तरह मचलते और जगमगाते देखा है, उसके मन पर हिमालय की बर्फ एक ऐसी खरोंच छोड़ जाती है जो हर बार याद आने पर पिरा उठती है। मैं जानता हूँ, क्योंकि वह बर्फ मैंने भी देखी है।

सच तो यह है कि सिर्फ बर्फ को बहुत निकट से देख पाने के लिए ही हम लोग कौसानी गये थे—नैनीताल से रानीखेत और रानीखेत से मझकाली के भयानक मोड़ों को पार करते हुए कोसी। कोसी से एक सड़क अल्मोड़े चली

जाती है, दूसरी कौसानी। कितना कष्टप्रद, कितना सूखा और कितना कुरूप है वह रास्ता। पानी का कहीं नाम-निशान नहीं, सूखे-भूरे पहाड़। हरियाली का नाम नहीं। ढालों को काटकर बनाये हुए टेढ़े-मेढ़े खेत, जो थोड़े से हों तो शायद अच्छे भी लगें। पर उनका एकरस सिलसिला बिल्कुल शैतान की आँत मालूम पड़ता है। फिर मझकाली के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर अल्मोड़े का एक नौसिखिया और लापरवाह ड्राइवर—जिसने बस के तमाम मुसाफिरों की ऐसी हालत कर दी कि जब हम कोसी पहुँचे तो सभी मुसाफिरों के चेहरे पीले पड़ चुके थे। कौसानी जानेवाले सिर्फ़ हम दो थे, वहीं उतर गये। बस अल्मोड़े चली गई। सामने के एक टीन के शेड में काठ की बेंच पर बैठकर हम वक़्त काटते रहे। तबीयत सुस्त थी और मौसम में उमस थी। दो घंटे बाद दूसरी लारी आकर रुकी और जब उसमें से प्रसन्न-वदन शुक्लजी को उतरते देखा तो हम लोगों की जान में जान आयी। शुक्लजी जैसा सफ़र का साथी पिछले जन्म के पुण्यों से ही मिलता है। उन्हीं ने हमें कौसानी आने का उत्साह दिलाया था और खुद तो कभी उनके चेहरे पर थकान या सुस्ती दीखती ही नहीं थी, उन्हें देखते ही हमारी भी सारी थकान काफूर हो जाया करती थी।

पर, शुक्लजी के साथ यह नयी मूर्ति कौन है? लम्बा, दुबला शरीर, पतला-साँवला चेहरा, एमिल जोला-सी दाढ़ी, ढीला-ढाला पतलून, कन्धे पर पड़ी हुई ऊनी जर्किन, बग़ल में लटकता हुआ जाने थर्मस था कैमरा या बाइनाकुलर। और, खासी अटपटी चाल थी बाबूसाहब की! यह पतला-दुबला मुझ जैसा सीकिया शरीर और उस पर आपका झूमते हुए आना—मेरे चेहरे पर निरन्तर घनी होती हुई उत्सुकता को ताड़कर शुक्लजी ने कहा—"हमारे शहर के मशहूर चित्रकार हैं सेन, अकादेमी से इनकी कृतियों पर पुरस्कार मिला है। उसी रुपये से घूमकर छुट्टियाँ बिता रहे हैं।" थोड़ी ही देर में हम लोगों के साथ सेन घुलमिल गया, कितना मीठा था हृदय से वह! वैसे उसके करतब आगे चलकर देखने में आये।

कोसी से बस चली तो रास्ते का सारा दृश्य बदल गया। सुडौल पत्थरों पर कलकल करती हुई कोसी, किनारे से छोटे-छोटे सुन्दर गाँव और हरे मखमली खेत। कितनी सुन्दर है सोमेश्वर की घाटी। हरी-भरी। एक के बाद एक बस-स्टेशन पड़ते थे, छोटे-छोटे पहाड़ी डाकखाने, चाय की दूकानें और कभी-कभी कोसी या उसमें गिरनेवाली नदी-नालों पर बने पुल। कहीं-कहीं सड़क निर्जन चीड़ के जंगलों से गुज़रती थी। टेढ़ी-मेढ़ी ऊपर-नीचे रेंगती हुई कंकड़ीली पीठ वाले अजगर-सी सड़क पर धीरे-धीरे बस चली जा रही थी। रास्ता सुहावना था और उस थकावट के बाद उसका सुहावनापन हमको

और भी तन्द्रालस बना रहा था। पर ज्यों-ज्यों बस आगे बढ़ रही थी त्यों-त्यों हमारे मन में एक अजीब-सी निराशा छाती जा रही थी—अब तो हमलोग कौसानी के नज़दीक हैं, कोसी से आठ मील चले आये, कौसानी सिर्फ़ छः मील है, पर कहाँ गया वह अतुलित सौन्दर्य, वह जादू जो कौसानी के बारे में सुना जाता था। आते समय मेरे एक सहयोगी ने कहा था कि कश्मीर के मुकाबले में उन्हें कौसानी ने अधिक मोहा है, गाँधीजी ने यहीं अनासक्ति-योग लिखा था और कहा था स्विट्जरलैंड का आभास कौसानी में ही होता है। ये नदी, घाटी, खेत, गाँव सुन्दर है किन्तु इतनी प्रशंसा के योग्य तो नहीं है। हम कभी-कभी अपना संशय शुक्लजी से व्यक्त भी करने लगे और ज्यों-ज्यों कौसानी नज़दीक आती गई त्यों-त्यों अधैर्य, फिर असन्तोष और अन्त में तो क्षोभ हमारे चेहरे पर झलक आया। शुक्लजी की क्या प्रतिक्रिया थी हमारी इन भावनाओं पर, वह स्पष्ट नहीं हो पाया, क्योंकि वे बिलकुल चुप थे। सहसा बस ने एक बहुत लम्बा मोड़ लिया और ढाल पर बढ़ने लगी।

सोमेश्वर की घाटी के उत्तर में जो ऊँची पर्वतमाला है, उसीपर, बिलकुल शिखर पर कौसानी बसा हुआ है। कौसानी से दूसरी ओर ढाल शुरू हो जाता है। कौसानी के अड्डे पर जाकर बस रुकी। छोटा-सा, बिलकुल उजड़ा-सा गाँव और बर्फ का तो कहीं नाम-निशान नहीं। बिलकुल ठगे गये हम लोग। कितना खिन्न था मैं। अनखाते हुए बस से उतरा कि जहाँ था वहीं पत्थर की मूर्ति-सा स्तब्ध खड़ा रह गया। कितना अपार सौन्दर्य बिखरा था सामने की घाटी में! इस कौसानी की पर्वतमाला ने अपने में यह जो कत्यूर की रंग-बिरंगी घाटी छिपा रखी है, इसमें किन्नर और यक्ष ही तो वास करते होंगे। पचासों मील चौड़ी यह घाटी, हरे मखमली कालीनों जैसे खेत, सुन्दर गेरू की शिलाएँ काटकर बने हुए लाल-लाल रास्ते, जिनके किनारे पत्थरों की क़तार और इधर-उधर से आकर आपस में उलझ जानेवाली बेलों की लड़ियों-सी नदियाँ। मन में बेसाख्ता यही आया कि इन बेलों की लड़ियों को उठाकर कलाई में लपेट लूँ, आँखों से लगा लूँ। अकस्मात् हम एक दूसरे लोक में चले आये थे। इतना सुकुमार, इतना सुन्दर, इतना सजा हुआ और इतना निष्कलंक कि लगा इस धरती पर तो जूते उतारकर, पाँव पोंछकर आगे बढ़ना चाहिए। धीरे-धीरे मेरी निगाहों ने इस घाटी को पार किया और जहाँ से हरे खेत और वन, क्षितिज के धुँधलेपन में, नीले कोहरे में घुल जाते थे, वहाँ पर कुछ छोटे पर्वतों का आभास अनुभव किया। उसके बाद बादल थे और फिर कुछ नहीं। कुछ देर उन बादलों में निगाह भटकती रही कि [illegible] हल्का-सा विस्मय का धक्का मन को लगा। इन धीरे-

धीरे खिसकते हुए बादलों में यह कौन चीज़ है, जो अटल है। यह छोटा बादल के टुकड़े-सा और कैसा अजब रंग है इसका, न सफ़ेद न रुपहला, न हल्का नीला पर तीनों का आभास देता हुआ···यह क्या है ? बर्फ़ तो नहीं है। हाँ जी ! बर्फ़ नहीं है तो क्या हैं ? और अकस्मात् बिजली-सा यह विचार मन में कौंधा कि इसी कत्यूर घाटी के पार वह नगाधिराज पर्वत-सम्राट् हिमालय है, इन बादलों ने उसे ढाँक रखा है। वैसे वह क्या सामने है, उसका एक कोई छोटा-सा बाल-स्वभाव वाला शिखर बादलों की खिड़की से झाँक रहा है। मैं हर्षातिरेक से चीख उठा, "बरफ़। वह देखो !" शुक्लजी, सेन, सभी ने देखा, पर अकस्मात् वह फिर लुप्त हो गया। लगा, उसे बाल-शिखर जान किसी ने अन्दर खींच लिया कि खिड़की से झाँक रहा है, कहीं गिर न पड़े।

पर, उस एक क्षण के हिम-दर्शन ने हमम जाने क्या भर दिया था। सारी खिन्नता, निराशा, थकावट, सब छू मन्तर हो गयी। हम सब आकुल हो उठे। अभी ये बादल छँट जायेंगे और फिर हिमालय हमारे सामने खड़ा होगा—निरावृत-असीम सौन्दर्यराशि हमारे सामने अभी-अभी अपना घूँघट धीरे-से खिसका देगी और-और, तब ? सममुच मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। शुक्लजी शान्त थे, केवल मेरी ओर देखकर कभी-कभी मुस्करा देते थे, जिसका अभिप्राय था, "इतने अधीर थे, कौसानी आई भी नहीं और मुँह लटका लिया। अब समझे, यहाँ पर का जादू !" डाक-बंगले के खानसामे ने बताया कि "आप लोग बड़े खुशकिस्मत हैं साहब, चौदह टूरिस्ट आकर हफ़्ते-भर पड़े रहे, वर्फ़ नहीं दीखी ! आज तो आपके आते ही आसार खुलने के हो रहे हैं।"

सामान रख दिया गया। पर मैं, मेरी पत्नी, सेन, शुक्लजी सभी बिना चाय पिये सामने के बरामदे में बैठे रहे, और एकटक सामने देखते रहे। बादल धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे और एक-एक कर नये-नये शिखरों की हिमरेखाएँ अनावृत हो रही थीं। और, फिर सब खुल गया। बायीं ओर से शुरू होकर दायीं ओर गहरे शून्य में धँसती जाती हुई हिमशिखरों की ऊबड़-खाबड़ रहस्यमयी रोमांचक शृंखला। हमारे मन में उस समय क्या भावनाएँ उठ रही थीं, यह अगर बता पाता तो यह खरोंच, यह पीर ही क्यों रह गयी होती। सिर्फ़ एक धुँधला-सा संवेदन इसका अवश्य था कि जैसे बर्फ़ की सील के सामने खड़े होने हर मुँह पर ठंडी-ठंडी भाप लगती है, वैसे ही हिमालय की शीतलता माथे को छू रही है और संघर्ष, सारे अंतर्द्वंद्व, सारे ताप जैसे नष्ट हो रहे हैं। क्योंकि पुराने साधकों ने दैहिक-दैविक और भौतिक कष्टों को ताप कहा था और उसे नष्ट करने के लिए वे यों हिमालय जाते थे, यह पहली बार मेरी समझ में आ रहा था। और, अकस्मात् एक दूसरा तथ्य

मेरे मन के क्षितिज पर उदित हुआ। कितनी पुरानी है यह हिमराशि ! जाने किस आदिमकाल से यह शाश्वत, अविनाशी हिम इन शिखरों पर जमा हुआ है। कुछ विदेशियों ने इसलिए हिमालय की इस बर्फ़ को कहा है— चिरंतन-हिम। सूरज ढल रहा था और सुदूर शिखरों पर दूर, ग्लेशियर, ढाल, घाटियों का क्षीण आभास मिलने लगा था। आतंकित मन में मैंने यह सोचा था कि पता नहीं इन पर कभी मनुष्य का चरण पड़ा भी है या नहीं या अनन्तकाल से इन सूने बर्फ़-ढंके दर्रों में सिर्फ़ बर्फ के अन्धड़ हू-हू करते हुए बहते रहे हैं।

सूरज डूबने लगा और धीरे-धीरे ग्लेशियरों में पिघली केसर बहने लगी। बरफ कमल के फूलों में बदलने लगी, घाटियाँ गहरी नीली हो गयी। अन्धेरा होने लगा तो हम उठे और मुंह-हाथ धोने और चाय पीने में लगे। पर सब चुपचाप थे गुमसुम, जैसे सब का कुछ छिन गया हो, या शायद सबको कुछ मिल गया हो जिसे अन्दर सहेजने में सब आत्मलीन हो अपने में डूब गये हों।

थोड़ी देर में चाँद निकला और हम फिर निकले। इस बार सब शान्त था। जैसे हिम सो रहा हो। मैं थोड़ा अलग आरामकुर्सी खींचकर बैठ गया। यह मेरा मन इतना कल्पनाहीन क्यों हो गया है ? इसी हिमालय को देखकर किसने-किसने क्या-क्या नहीं लिखा और यह मेरा मन है कि एक कविता तो दूर, एक पंक्ति, हाय एक शब्द भी तो नहीं जानता ! ··पर कुछ नहीं, यह सब कितना छोटा लग रहा था इस हिम-सम्राट् के समक्ष। पर धीरे-धीरे लगा कि मन के अन्दर भी बादल थे, जो छँट रहे हे। कुछ ऐसा उभर रहा है जो इन शिखरों की ही प्रकृति का है—कुछ ऐसा जो इसी ऊँचाई पर उठने की चेष्टा कर रहा है, ताकि इनसे इन्हीं के स्तर पर मिल सके। लगा, यह हिमालय बड़े भाई की तरह ऊपर चढ गया है, और मुझे छोटे भाई को··· नीचे खड़ा हुआ, कुंठित और लज्जित देखकर थोड़ा उत्साहित भी कर रहा है, स्नेहभरी चुनौती भी दे रहा है · हिम्मत है ? ऊँचे उठोगे ?'

और सहसा सन्नाटा तोड़कर सेन रवीन्द्र की कोई पंक्ति गा उठा और जैसे तन्द्रा टूट गयी। और हम सक्रिय हो उठे ··अदम्य शक्ति, उल्लास, आनन्द जैसे हममें झनक पड़ रहा। सबसे अधिक खुश था सेन, बच्चों की तरह, चंचल चिड़ियों की तरह चहकता हुआ। बोला, "भाई साहब, हम तो वण्डर-स्ट्रक है कि यह भगवान् का क्या-क्या करतूत इस हिमालय में होता है !' इस पर हमारी हँसी मुश्किल से ठंडी हो पायी थी कि अकस्मात् वह शीर्षासन करने लगा। पूछा गया तो बोला, "हम हर पर्सपेक्टिव से हिमालय देखूंगा।" बाद में मालूम हुआ कि वह बम्बई की अत्याधुनिक चित्रशैली से थोड़ा नाराज़ है और कहने लगा, "ओ सब जीनियस लोग शीर का बल खड़ा होकर

दुनिया को देखता है। इसी से मैं शीर का बल हिमालय देखना हूँ।"

दूसरे दिन घाटी में उतरकर, बारह मील चलकर हम बैजनाथ पहुँचे, जहाँ गोमती बहती है। गोमती की उज्ज्वल जलराशि में हिमालय की बर्फ़ीली चोटियों की छाया तैर रही थी। पता नहीं, उन शिखरों पर कब पहुँचे, कैसे पहुँचे, पर उस जल में तैरते हुए हिमालय से जी-भर कर भेंटा, उसमें डूबा रहा।

अब भी उसकी याद आती है तो मन पिरा उठता है। कल ठेले की बर्फ़ को देखकर वे मेरे मित्र उपन्यासकार जिस तरह स्मृतियों में डूब गये, उस दर्द को समझता हूँ, और जब ठेले पर हिमालय की बात कहकर हंसता हूँ तो यह उस दर्द को भुलाने का ही बहाना है। वे बर्फ़ की ऊँचाइयाँ बार-बार बुलाती हैं, और हम है कि चौराहों पर खड़े ठेले पर लदकर निकलनेवाली बर्फ़ को ही देखकर मन बहला लेते है। किसी ऐसे ही क्षण में, ऐसे ही ठेलों पर लदे हिमालयों से घिरकर ही तो तुलसी ने भी कहा था—"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौगे" मैं क्या कभी ऐसे भी रह सकूँगा वास्तविक हिमशिखरों की ऊँचाइयों पर ? और, तब मन में आता है कि फिर हिमालय को किसी के हाथ सन्देश भेज दूँ—"नहीं बन्धु···जाऊँगा। मैं फिर लौटकर वहीं जाऊँगा। उन्हीं ऊँचाइयों पर मेरा आवास है। वहीं मेरा मन रमता है—मैं करूँ तो क्या करूँ ?"

25

पत्थर और बहता पानी

—निर्मल वर्मा

मैं अक्सर सोचता हूँ कि शहर कितने दुर्भागे हैं, जिनके अपने कोई खंडहर नहीं। उनमें रहना उतना ही भयानक अनुभव हो सकता है, जैसे किसी ऐसे व्यक्ति से मिलना, जो अपनी स्मृति खो चुका है, जिसका कोई अतीत नहीं। अगर मुझसे कोई नरक की परिभाषा पूछे, तो वह है, हमेशा वर्तमान में रहना, एक अन्तहीन रोशनी, जहाँ कोई छाया नही, जहाँ आदमी हमेशा आँखें खोले रहता है—नींद और स्वप्न और अँधेरे को भूलकर। जहाँ वर्तमान शाश्वत है वहाँ शाश्वत भी अपना मूल्य खो देता है, क्योंकि जो चीज शाश्वत को आयाम देती है—समय—वह खुद कोई मूल्य नहीं रखता।

इसलिए जब वर्तमान का बोझ असह्य हो जाता है, मै अपना घर छोड़ कर शहर के दूसरे 'घरों मे' चला जाता हूँ—जहाँ अब कोई लोग नहीं रहते—सदियों पुराने मक़बरे, महल, मदरसे—जहाँ अँधेरा होते ही चिमगादड़ उड़ते हैं। ये हमारे शहर के खंडहर हैं—शहर की स्मृतियाँ और स्वप्न। दिल्ली में इन इमारतो की कोई कमी नही। वे हर जगह बिखरी है। सिर्फ़ आधा घंटे मे मैं एक दुनिया को छोड़कर दूसरी दुनिया मे जा सकता हूँ—एक समय से उठकर बिल्कुल दूसरे समय मे प्रवेश कर लेता हूँ—बिना कोई टिकट खरीदे, बिना 'क्यू' में खड़े हुए। वहाँ न पत्थर रास्ता रोकते है, न मृतात्माएँ धक्का देती है।

किन्तु ऐसा भी युग था, जब न शहर थे न खंडहर—आदमी अपना अतीत खुद अपने भीतर लेकर चलता था—यहा यूँ कहें कि स्मृति अभी तक इतिहास नही बनी थी, जिसे स्मारकों और पोथियों द्वारा ढोना पड़ता है। आदिम युग का व्यक्ति अतीत और वर्तमान दोनों को साथ लेकर चलता था और जब चाहे उनसे छुटकारा भी पा लेता था। यज्ञ, आहुति और बलि के क्षणों में वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाता था, जहाँ समय शुरू होता है, आदि-क्षण का आलोक, जहाँ वह कितना स्वच्छ हो जाता था, न केवल अपने पापों,

बल्कि उनकी स्मृति से भी मुक्ति पा लेता था। जिस तरह हम आधुनिक शहर को छोड़कर खंडहरों में जाते हैं—यह भी उतनी ही सुलभता से 'सांसारिक समय' से उठकर 'आदि समय' में चला जाता था। समय की इस गंगोत्री पर उसके लिए जन्म और मृत्यु, शुरू और अन्त, नश्वर और शाश्वत का भेद खुल जाता था। एक शब्द में यह सृष्टि के आरम्भ होने के पहले के 'मिथक-काल' में पहुँच जाता था और वहाँ से दुबारा मुड़ता था—हल्का और मुक्त, ताकि अपने को नये सिरे से शुरू कर सके।

क्या हम इतिहास से त्रस्त आधुनिक शहरों में रहनेवाले प्राणी—ऐसे क्षण को जी सकते हैं, ऐसे अनुभव को भोग सकते हैं? या उसे हमने हमेशा के लिए खो दिया है?

खंडहरों के बीच घूमते हुए मुझे कभी-कभी लगता है कि वैसा अनुभव आज भी असम्भव नहीं है। हमारे बीच दो चीजें ऐसी है जिनके सामने, जिन्हें छूकर हम अपने साधारण क्षणों में भी **इतिहास की चिरन्तनता** और **प्रकृति** - जो शाश्वत है—**उसकी ऐतिहासिकता**—दोनों को एक समय में एक साथ अनुभव कर सकते है। अजीब बात यह है, ये दोनों चीजें अपने स्वभाव में एक-दूसरे से बिल्कुल उल्टी है—एक ठोस और स्थायी, दूसरी सतत् प्रवाहमान, हमेशा बहनेवाली—पत्थर और पानी। किन्तु दोनो एक सिक्के के दो पहलू है—दोनों के सामने हम सहसा अपने से परे चले जाते है, एक ऐसे काल-खण्ड में पहुँच जाते हैं, जब हम नही थे (खंडहरो के सामने), जहाँ हम खत्म हो जायेगे (बहते पानी को छूते हुए) पत्थर और पानी दोनों के सम्मुख यह अनुभव होता है कि हम उनके गवाह नही है—वे हमारे गवाह है। हम उनके अस्तित्व को नहीं देख रहे, वे हमारे जीने को देख रहे है। यह अनुभव हमारे उस आधुनिक बोध को कितना धक्का देता है, जहाँ हम ससार के साक्षी होने का दम्भ भरते हैं, जब कि हम स्वय इतिहास से त्रस्त है! एक त्रस्त गवाह की गवाही कैसी? वह न इतिहास रच सकता है, न इतिहास का अतिक्रमण कर सकता है, जिनमें कविता जन्म लेती है। इसीलिए रिल्के ने एक युवा कवि को सलाह दी थी, "आप को प्रकृति की तरफ आना होगा। दुनिया के आदिपुरुषों के समान आपको यह सब सहने की कोशिश करनी होगी, जो आप देखते हैं, अनुभव करते है, प्रेम करते हैं खो देते हैं।"

किन्तु समय की एक सीमा के बाद, जिसे तुम इतिहास मानते आये थे वह प्रकृति का ही हिस्सा जान पड़ता है, इसका अहसास जितना पुराने खंडहरों में घूमते हुए होता है, शायद कहीं और नहीं। दिल्ली के पुराने

क़िले में पत्थरों के ढूह, आधी टूटी हुई मीनारें, दीवारों के भग्न झरोखे इतने चिरन्तन समय की आपा-धापी से इतना दूर जान पड़ते हैं, कि यह प्रश्न बिल्कुल अर्थहीन जान पड़ता है कि उसे पाण्डवों ने बनवाया था, या हुमायूं ने। वे ढूह उतने ही शाश्वत, उतने ही 'प्राकृतिक' जान पड़ते हैं, जितने शिमला के पहाड़, पहाड़ों के बीच लेटी हुई घाटियाँ। इसलिए साहिर लुधियानवी का यह क्षोभ कुछ बेमानी-सा लगता है कि ताज को एक बादशाह ने नहीं, मज़दूरों ने बनाया था, जिन्हें हम याद नहीं करते; न ग़ुलाम को याद करते हैं, न साहब को, न बेचारी बीवी को, जिसकी स्मृति में उसका निर्माण हुआ था। समय बीतने के साथ ताज की ऐतिहासिक स्मृति एक ऐसे 'मिथक क्षण' मे घुल-मिल गई है, जहाँ सिर्फ़ देखना, अनुभव करना, प्रेम करना और खो देना' ही बाक़ी रह जाता है।

जिस तरह इतिहास कभी-कभी प्रकृति में बदल जाता है, उसी तरह प्रकृति भी इतिहास में बदल जाती है। क्या गंगा एक भारतीय के लिए महज़ बहता पानी है? वह हमारी गहन स्मृतियों को जिन्हें हम 'संस्कार' कहते हैं—जगाती है, हमें इतिहास के उस मिथक-क्षण में ले जाती है, जब थके मांदे आर्यो ने पहली बार उसकी मुक्त सपाट धारा को देखा होगा। कितना अजीब विरोधाभास है कि एक समय बाद आदमियों द्वारा बनायी गयी इमारतें 'प्रकृति' मे बदल जाती है— शाम की धूप मे कालातीत, इतिहास से मुक्त, जब कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी, नहाते यात्रियों ने गंगा की शाश्वत धारा को अपनी स्मृतियों मे पिरो दिया है—जहाँ इतिहास और प्रकृति एक-दूसरे से मिल जाते हैं।

और तब मैं अपने से पूछता है कि 'बहते पानी' के साथ हिन्दू-मानस का इतना घना लगाव क्या इसीलिए तो नही है कि उसमें मिथक और इतिहास का सम्पूर्ण भेद छिपा है? और इस 'भेद' में सिर्फ रहस्य का ही आशय नही है, बल्कि अलगाव का भी। हम इतिहास के प्रति सचेत नही थे, यह सही नही है। सही यह है कि हम इतिहास के प्रति सचेत होते हुए भी उसके बिम्बों का निर्माण निरर्थक समझते थे। इसीलिए हम परम्परा को भी उतना महत्त्व नहीं देते थे, जितना दूसरे देशों के लोग क्योंकि हम उसे बीते हुए समय का अंश नहीं मानते थे, जिसे वर्तमान में होना है। हमें अपनी परम्परा का उतना ही अनुभव होता है, जितना 'अतीत' हम अपने भीतर लेकर चलते हैं—बाक़ी सब खंडहर हैं, पत्थर और पोथियाँ—जो परम्परा नहीं, अतीत के स्मारक हैं। शायद यही कारण है कि रोमन खंडहरों या पुराने मक़बरों के बीच घूमते हुए एक अजीब गहरी-सी उदासी घिर आती

है—जैसे कोई हिचकी, कोई साँस, कोई चीख़ इनके बीच फँसी रह गयी हो—जो न अतीत से छुटकारा पा सकती हो, न वर्तमान में जज़्ब हो पाती हो।

किन्तु इस उदासी के नीचे एक और गहरी उदासी दबी है…और वह उनके लिए नहीं है, जो एक जमाने में जीवित थे, और अब नहीं है—वह बहुत-कुछ अपने लिए है, जो एक दिन इन खंडहरों को देखने के लिए नहीं बच रहेंगे। पुराने स्मारक और खंडहर हमें उस मृत्यु का बोध कराते हैं, जो हम अपने भीतर लेकर चलते हैं। बहता पानी उस जीवन का बोध करता है, जो मृत्यु के बावजूद वर्तमान है, गतिहीन है, अन्तहीन है। जब कोई हिन्दू अपने सगे सम्बन्धी की अस्थियाँ हरिद्वार की गंगा में बहाता है, तो न केवल मृतात्मा को उसकी देह से मुक्त कराता है बल्कि वह अपनी पीड़ा से भी छुटकारा पा लेता है। 'कैथार्सिस' की सम्पूर्ति, जो यूनानी दर्शक नाटक के अन्त में अनुभव करता था, हम उसे बहते पानी के छोर पर पा लेते थे।

आज यह अनुभव दुर्लभ लगता है। आज यह इसीलिए दुर्लभ लगता है कि हम इतिहास और मिथक—समय और शाश्वत—को बाँटने के इतने आदी हो गये हैं कि यह नहीं सोच पाते कि एक ही समय में मनुष्य को दोनों का अनुभव होता रहा है। आज का ऐतिहासिक व्यक्ति अपने भीतर 'पौराणिक क्षणों' को उसी तरह जीता है, जिस तरह मिथक-काल का व्यक्ति इतिहास को भोगता था। यदि आज हम 'ऐतिहासिक' काल में रहते हैं, तो भी हमारे भीतर उस खोये हुए स्वप्न को पाने की भूखी आकांक्षा आँख खोले रहती है, जब हम खंडित नहीं थे, प्रकृति से सम्पृक्त थे, सम्पूर्ण थे। माना, यह मिथक-काल की वास्तविकता नहीं थी, किन्तु इससे न तो स्वप्न झूठा हो जाता है, न आकांक्षा की तीव्रता मन्द हो जाती है

वह स्वप्न हम खो चुके हैं, इसकी पीड़ा का अहसास भी रिल्के को उतना ही था, जितना आदि कवि व्यास को रहा होगा। दरअसल समूचा काव्य इस खोने के आतंक को समझने का प्रयास है और इस समझ के लिए हर कवि को 'प्रकृति के पास जाना था।'

किन्तु यदि प्रकृति के पास जाने का मतलब है, अपने अलगाव और अकेलेपन से मुक्ति पाना; अपने छिछोरे, ठिठुरते अहम का अतिक्रमण करके, अनवरत समय की कड़ी में अपने को पिरो पाना, तो यह बोध पुराने खंडहरों के बीच भी होता है। यह विचित्र अनुभव है। ठहरे हुए पत्थरों के सामने बहते समय को देख पाना। पहली बार इतिहास का अनुभव—किताबों और तिथियों से न होकर—पत्थरों के बीच उगती घास, छतों पर चिपटे

चिमगादड़ों, गुम्बदों पर गमगीन ऊँघती धूप द्वारा होता है। सहसा यह बोध होता है कि कविता, संगीत, चित्र—कोई भी कला-कृति उस मौन को भेदने की कोशिश है, जो इन पत्थरों के बीच उतनी ही शाश्वत है जितनी प्रकृति के भीतर कोई भी चीज़ नहीं मरती, यदि वह अपने से उठकर किसी अन्य मे अपने को जोड़ लेती है। एपिक-काल में यह सम्भव था—हर महाकाव्य मे, चाहे वह महाभारत हो या इलियड, एक पुरुष की ट्रैजिक नियति इसी अलगाव से उत्पन्न होती थी, और इसका समाधान जब होता है, तब अर्जुन या ओडीपस अपनी इस विशिष्टता के भ्रम से छुटकारा पा लेते है, आत्मकेन्द्रित छलना से उठकर अपने को एक बृहत्तर धारा मे छोड़ देते है—जहाँ सन्देह की पीड़ा एक अनिवार्य आस्था मे घुल जाती है।

मिथक-काल मे आस्था प्रमुख थी, सन्देह का सूत्र क्षीण था। बाद के ऐतिहासिक युग मे मनुष्य को अपने पर ही इतनी अधिक शका हो गयी कि आस्था के क्षण दुर्लभ लगने लगते है। लेकिन इन दो सीमान्तों के बीच एक ऐसा युग भी रहा होगा, जब सन्देह और आस्था बराबर-बराबर मे बँटे थे, जब मनुष्य अपने भीतर मिथक-काल की आस्था और ऐतिहासिक युग की शका एक साथ लेकर चलता था—आलोक और अँधेरा—दोनों के पलड़े एक बराबर थे। ऐसे समय में ही महाकाव्य, एपिक की रचना सम्भव हुई होगी। महाभारत में कितने ही ऐसे स्थल आते है, जब व्यक्ति को दोनों चेतनाओं का अहसास एक ही समय मे होता है, और जब कभी एक पलड़ा भारी पड़ने लगता है और दोनों के बीच सन्तुलन (धर्म) बिगड़ने लगता है, तो स्वय कृष्ण—यहूदी मसीहाओं की तरह—घटनाचक्र मे हस्तक्षेप करने को मजबूर हो जाते है।

एक तरह मे आज हम उसी बिन्दु पर पहुँच गये है—समय और शाश्वता सन्देह और आस्था के उस असहनीय, तनावपूर्ण बिन्दु पर—जब हम अपने को एपिक-सस्कारो के सबसे निकट पाते है। तभी टॉमस मान ने कहा था कि आज का साहित्य अपने सर्वोत्तम सृजनात्मक क्षणों में 'महाकाव्य' बनने का स्वप्न देखता है। यह क्या महज सयोग था कि पिछले सौ वर्षों मे यदि कोई एक लेखक महाकाव्य के आयाम छूने में सफल हो पाया - तोल्स्तोय अपने उपन्यासों में—तो इसलिए कि वे अकेले ऐसे लेखक थे, जिनमें सन्देह और आस्था—काल और कालातीत का घात-प्रतिघात—सबसे अधिक तीव्र, सबसे अधिक यातनामय था? किन्तु वह संघर्ष यदि महज यातनामय होता, तो वे शायद कभी एपिक-लेखक न बन पाते। वे इस संघर्ष, इस यातना, इस अन्तर्द्वन्द्व के अन्तिम छोर पर जाकर, पीछे मुड़कर उसकी निरर्थकता का विस्तार

भी देख सकते थे। क्या कभी हम वह दृश्य भूल सकते हैं, जब युद्धक्षेत्र में आन्द्रे क्षत-विक्षत, लहू-लुहान होकर अचानक नीले आकाश को देखते हैं। रोते-बिलखते सैनिक, हिनहिनाते घोड़े—खून-पसीने से लथपथ इतिहास के ऊपर वह आकाश कितना तटस्थ, कितना उदासीन, कितना निर्दोष दिखायी देता है! इतिहास उतना ही सच है—जितना आकाश। दोनों को एक साथ, एक ही समय में देखते हुए आन्द्रे को अपने समूचे जीवन का अर्थ और निरर्थकता—एक कौंध में दिखायी दे गये थे।

किन्तु जहाँ सिर्फ़ इतिहास है, वहाँ आस्था की एक क्षीण-सी रेखा भी दिखाई नहीं देती। कितना अन्तर है तोल्स्तोय की एपिक-दृष्टि में और एक दूसरे कवि की इन पक्तियों में, जो उसने क्षणभंगुर जीवन की घोर निराशा में डूबकर लिखी होगी:

टुमॉरो ऐंड टुमॉरो ऐंड टुमॉरो
क्रीप्स इन दिस पेटी पेस फ्रॉम डे टुडे
टु द लास्ट सिलेबल ऑफ रिकार्डिड टाइम
ऐंड ऑल आवर यस्टरडेज हैव
लाइटिड फूल्स
द डे टु डस्टी डेथ।

यहाँ कोई भ्रम नहीं। कोई छलावा नहीं। मनुष्य अपने से शुरू होता है, अपने में नष्ट हो जाता है। इस आत्मकेन्द्रित सत्य के पीछे कोई तसल्ली नहीं, कोई दिलासा नहीं। यह क्षण ही शाश्वत है, सम्पूर्ण है, अन्तिम है। सब कुछ अभी है, यहाँ है इसके परे सिर्फ़ राख है, कुछ भी नहीं। जरा कल्पना कीजिए, शेक्सपियर की यह निराशा, यह बेचैनी यह छटपटाहट एपिक-युग की सम्पूर्ण, कालातीत प्रतिज्ञा से कितनी दूर है! जब कभी अर्जुन इस प्रतिज्ञा से भटक जाते हैं (और अर्जुन का अन्तर्द्वन्द्व एक तरह से उतना ही यातनामय था, जितना हैमलेट का), बार-बार कृष्ण उन्हें आकाश का नीला विस्तार दिखाना नहीं भूलते।

किन्तु इसके आगे सोचना नहीं होता। शहर की बत्तियाँ जल जाती हैं। मैं दुबारा अपने युग की परिधि में लौट आता हूँ। पुराने किले पर अँधेरा घिर जाता है, दिल्ली का पुराना अंधेरा। वह सदियों से झुलसते, गर्म, गर्द-भरे पत्थरों को सहलाता है। सिर्फ़ खुले, जालीदार झरोखों में धूप टँगी रह गयी है, कैसा अजीब विषाद और मौन है इन मुस्लिम इमारतों में, जैसे रेगिस्तान के बीच जो विषण्ण एकान्त है, वह एक-एक पत्थर अपने पर ढोता हुआ यहाँ तक ले आया है। खुले मरुस्थल पर नमाज़ की गूंज। शहर की भगदड़ के बीच एक शान्त, ठहरी स्मृति का द्वीप...।

अँधेरे के साथ यहाँ प्रेमी आते हैं। दीवारों के पीछे कभी-कभार उनकी छाया, एक दबी, उत्सुक-सी फुसफुसाहट सुनायी दे जाती है। सोचता हूँ, उनका यहाँ आना कितना ठीक है। पत्थरों को छूने का मतलब ही है, शाश्वत के एक टुकड़े को छू लेना। एक तरह से प्रार्थना करना कि कम-से-कम इस शाम का प्रेम, इस अँधेरी घड़ी की चाहना बीतेगी नही, आनेवाले वर्षों में इन खंडहरों के बीच जीवित रहेगी। पत्थर एक वफ़ादार गवाह है, प्रेम एक मांसल गवाही। शायद यह चाहना, यह विह्वल आकुलता, इस क्षण को मिटाने की आकांक्षा ही है, जो आज भी हमें इतिहास से उठाकर मिथक से जोड़ देती है। शहर के किनारे अँधेरे में डूबे इन खंडहरों में हम सन्त्रस्त काल से उठकर पवित्र समय में चले आते है—जहाँ न समय है, न मृत्यु, न बीतने का आतंक। और तब मुझे स्पेनिश कवि सेरनुदा की एक पंक्ति याद हो आती है, "प्रेम नहीं मरता···सिर्फ़ हम मर जाते है।"

26

स्नान : एक सहस्रशीर्ष अनुभव

—कुबेरनाथ राय

स्नान को मै पचम पुरुषार्थ का सहोदर मानता हूँ। वैष्णवों ने चारों पुरुषार्थो से परे, ईश्वर साक्षात्कार को पचम पुरुषार्थ के रूप मे देखा है। स्नान की सुखद अनुभूति भी ईश्वर साक्षात्कार के क्षण-भोग जैसी ही होती है। क्षण भर के लिए ही सही, पर लगता है कि सारा अस्तित्व अतीन्द्रियता की ओर उन्मुख हो रहा है। यह अनुभूति बहुत कुछ अनिर्वचनीय-सी होती है। जल आदि भूत है, 'या सृष्टि : स्रष्टुराद्या...' रूप में परमात्मा की प्रथम भौतिक मूर्ति है और स्नान करते समय इसके साथ सम्पर्क जोडना माने आदिभूत के साथ एकाकार होने की चेष्टा करना, आदिभूत के स्पर्श को मानसिक और आत्मिक स्तर पर आत्मभुक्त करने की चेष्टा करना। और शायद यही कारण है कि हम स्नान करते समय अनुभव करते है कि भीतर-भीतर आत्मा भी तरल होकर प्रवाहमयी बन गयी है और हमारी स्थूलता अर्थात् भौतिक देहसत्ता विगलित और रूपान्तरित हो रही है।

या जल की अपनी एक निराकार भावसत्ता भी है। निराकार रूप में यह ब्रह्मसत्ता है। भावसत्ता के रूप मे कवियो ने दृष्टि, जल की और मरमी प्रेमियों ने 'अन्तम्' या हृदय-जल की भी कल्पना की है। 'अन्तम्' शब्द का अर्थ भी जल माना गया है। जल की सगुण और साकार सत्ता मे आता है मृग-जल जो रूप-तृषा का धोखेबाज भ्रम जल है। इसके निरन्तर नाचते जल मे स्नान करने से ईश्वर मुझे क्या, हो सके तो यार दोस्तों तक को बचाये। फिर आता है अश्रु-जल, जिसके अन्तर्गत नन्हें-मुन्नो के विकट क्रन्दन से लेकर श्रीमती के प्रणय-अश्रु और प्रेमिका का रोदस-मधु सभी आते हैं। पर इन सारे जलों से महत्त्वपूर्ण साक्षात् जीवन-स्वरूप, तृषा-हर, ताप-हर, सृष्टि, जन्म-सहोदर एव प्राण-सहोदर जो जल है, वह है अपना स्थूल जल, जिसे हम पान-प्रक्षालन-प्रोक्षण और स्नान के लिए प्रतिदिन व्यवहृत करते हैं। इन तरह-तरह के निराकार एव साकार जलों से हम बुद्धि, मन और देह के स्तर पर तरह-तरह के

स्नान करते हैं और बाहर-भीतर के कर्दम को साफ़ करते रहते हैं। यहाँ पर हम अपनी चर्चा दैहिक स्नान तक ही यथासम्भव सीमित रखने की चेष्टा करेंगे। पर जो कुछ देह-स्तर पर घटित होता है उसका स्पर्श मन और बुद्धि को भी दीप्ति या छाया दे जाता है। अतः स्नान चाहे मन्त्राभिषिक्त अभिषेक हो, या दैनिक लोटा-बाल्टी वाला या बाथरूमस्थ मज्जन मार्जन हो, या आलमियों की 'कठौती गंगा' की शैली में काकस्नान हो, या बहती नदी में जल का मन्थन करते हुए वीरोपम अवगाहन हो, हरेक स्थिति में लगता है मन रजोमुक्त हो रहा है। तबीयत हलकी हो जाती है, गन्दे विचार धुल-से जाते है, सारी ग्लानि, सारा सन्ताप, सारा प्रमाद कट जाता है और लगता है कि हम चाहे तो उड़ सकते हैं, चाहे तो धरती से एक हाथ ऊपर चल सकते है, यह एक आपाद-मस्तक अपूर्व श्लथिमा और मुक्ति का अनुभव है। यह अनुभव अपने मे अपूर्वता, रजोगुण-मुक्ति ओर आत्मारामता की उपस्थिति के कारण ईश्वर साक्षात्कार के, जिसे वैष्णवों ने 'पचम पुरुषार्थ' की सज्ञा दी है, समानान्तर-सा लगा है। हाँ, मात्रा-भेद अवश्य है। परंतु मात्रा-भेद के बावजूद यदि काव्यानन्द को योगियों के ब्रह्मानन्द का सहोदर माना जा सकता है, तो मैं प्रस्ताव कर सकता हूँ कि उसी सीमा तक स्नान को भी पचम पुरुषार्थ का सहोदर माना जाये। ईश्वर-साक्षात्कार अर्थात् पचम् पुरुषार्थ की ही तरह इस में भी साध्य-साधन भाव से परे मात्र सुखानुभूति, केवल सुख, अविचल विश्राम, चरम शान्ति, विराट क्षमा का अनुभव होता है। अत. मात्रा भेद स्वीकारते हुए भी दोनों को सहोदर मानने में मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता।

हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है, जहाँ स्नान को भोग शृगार तो माना ही गया है, धर्म और तपस्या भी माना गया है। यह षोडश शृगारों मे से एक है। इसके अभाव में सारे शृगार अस्पृश्य और दुर्गन्धमय लगते है। जो सौन्दर्य को उद्घाटित करता है और उसे एक पावनता प्रदान करता है, इसी से यह अन्यतम शृगार माना गया है। लाख कोई तेल-फुलेल लगावे, चोवा-चन्दन और कुसुम शृंगार धारण करे, पाटम्बर परिधान पहने, पर यदि स्नान न किया हो तो स्वयं को ही यह सब व्यर्थ और अपावन लगता है। धर्म-कर्म के रूप मे स्नान का महत्त्व तो ऐसा जम कर है कि बस आफ़त है। गोया यह स्नान न होकर स्वर्ग की सीढ़ी हो। यहाँ तो देवपूजन, राज्यारोहण, दीक्षाग्रहण सबके साथ अभिषेक अर्थात् स्नान मुख्य कल्प के रूप में जुड़ा है। यहाँ तीर्थयात्रा माने स्नानयात्रा और पर्व माने स्नानपर्व। अपने गाँव के पन्ना साहू और लागूदन अहीर भी दुर्गन्ध व्रत तोड़कर संक्रान्ति के अवसर पर स्नान करते हैं और दोनों बन्धु परस्पर दुखड़ा रोते है। "मत पूछ यार,

हर साल यह 'सकरात' आ ही जाता है।" हमारे बालसखा दिलदार पण्डित भी इधर प्रति दिन स्नान करने लगे है। बाध्य हो गये बेचारे ! अन्यथा वे 'मन चगा तो कठौती मे गगा' को ही बचपन से आस्थापूर्वक मानते आये थे।

मेरे अपने घर मे 'पानी' और 'डालर' 'रूबल' जैसे नन्हे-मुन्नो को स्नान के लिए फुसलाना पडता है, तो दूसरी ओर माँ, दिन मे तीन बार नहाती है। और मै कहता हूं, "माँ तेरे देवता तो समुद्र-शय्या पर सोते हैं, उन्हे अभ्यास हो गया है, अत. सर्दी-जुकाम का डर नही, पर तू ऐसा नही कर सकती। तुझे सर्दी लग जायेगी।" पर मेरे इस तर्क के बावजूद वह हाथ लगी स्वर्ग की सीढी नही छोडना चाहती।

यह तो स्नान-वीरो का देश है। मनुष्य तो मनुष्य, यहा गृह-पशुओ और प्रेतो तक के लिए स्नान पर्व है। यो प्रेतो के अस्तित्व मे मेरा विश्वास नही, पर मै उस कल्पना के अन्दर अद्भुत् रस का आस्वादन पाता हू, जिसके अनुसार फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को मध्य ज्योत्स्ना रात्रि मे ससार के पिशाच-गण काशी की यात्रा करते है, स्नान-पर्व मानने के लिए। वे कालेश्वर कुण्ड पर स्नान कर के विशालाक्षी और रुद्र की अर्चना करते है। प्रेत-अस्तित्व का अनुभव एक मानसिक विकृति है, पर इस विकृति को भी एक बार गगा स्नान करा देना उचित ही है। अद्भुत कल्पना है। मध्यनिशा मे चादनी की धारा के मध्य आकाश के प्रेतो की पाँत परपात चल रही है, अपने मालिक भूतेश्वर शिव के दरबार मे जुहार करने और स्नान-उत्सव मनाने। घटताल पीटती हुई, अद्भुत शब्द करती हुई पाँत पर पाँत आकाशचारी पिशाचवाहिनी कालेश्वर कुण्ड पर उतरती है, वैतरणी के तट पर झुण्ड जीव-खगो की उतरती पात की तरह। और इस ज्योत्स्नामयी रात्रि को भयावह करती हुई, व पिशाच पक्तिया अपने नेता धूर्जटी के दरबार मे हाजिर हो रही है। सारा आकाश ही दरबार का मेघडम्बर शामियाना बना हुआ है और सारा गगातट उन्मुक्त प्रेत नृत्य से भयभीत हो उठा है। सारे अविमुक्त क्षेत्र की साँस बन्द है। ज्योत्स्ना-काक अर्थात् उल्लू भी मारे भय के शान्त है। ऐसे वातावरण मे महाशाप की तरह आकाश से प्रेतगण उतरते है और कालेश्वर कुण्ड मे डुबकी मारकर फिर उसी गति से ऊपर उठकर बाण-वेग से वे मणिकर्णिका की दिशा मे चल देते है, विशालाक्षी और रुद्र के दर्शन के लिए।

जब-जब मैं गेटे के 'फास्ट' मे वर्णित 'प्रेत रात्रि' (वालपर्जिसनाइट) को पढ़ाता हूँ, मुझे अविमुक्त क्षेत्र के फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी का यह प्रेत-पर्व स्मरण हो आता है। अत मुझे लगता है कि ससार की किसी अन्य जाति ने स्नान को इतना महत्व नही दिया है। भोगो मे स्नान और विद्यालयो मे दर्शन-शास्त्र, इन दो के प्रति इस जाति का घनघोर प्रेम अति की सीमा को पार

कर गया है। यह जाति प्रत्येक कर्म के पूर्व स्नान करती है और प्रत्येक कर्म के पीछे दार्शनिक युक्ति खोजती है। इस स्नान-प्रेम का मूल उद्गम वर्तमान भारतीय जाति की आदि संस्कृति निषाद-संस्कृति में है। निषादों की स्नान-शैली थी अवगाहन, अर्थात् नदी या सरोवर में स्नान। द्रविड़ों ने मज्जन-मार्जन को स्नानागारों में स्थान दिया और स्नान का रूप अवगाहन से प्रक्षालन हो गया।

उस अविकसित युग में भी स्नान की कला इस दिशा में कितनी उन्नत और कितनी लोकप्रिय थी, इस का अन्दाज हम मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के ईसा पूर्व दो सहस्र पुराने स्नानागारों को देखकर कर सकते है, जिनके जल-निकास की व्यवस्था देखकर आज के अभियन्ता या इंजीनियर भी मात खाते है। आर्यो की अग्नि-उपासना अर्थात् यज्ञ का रूपान्तर हुआ 'हवन'। निषादो और द्रविडों का स्नान-प्रेम बना 'तीर्थ', द्रविड़ो की भाव-साधना बनी 'कीर्तन' या 'भजन' और आर्यों की चिन्ताशीलता बनी 'दर्शन'। इस प्रकार हवन-तीर्थ-कीर्तन-दर्शन के चार पहियों पर हिन्दू धर्म की बैलगाड़ी चल पड़ी और चलती रहेगी निरन्तर। मानता हूं कि यह बैलगाडी ही है, रेल, ट्रक, या जहाज नहीं। पर रेल अपनी गति के बावजूद कितनी ईश्वरनिरपेक्ष, उदास, निस्संग तथा अमानवीय लगती है। लम्बी बन्द, श्मशान जैसी उदास और भयावह मालगाडी की अपेक्षा गुलजार—'मनसायन' और सजीव बैलगाड़ी ईश्वर और मनुष्य के अधिक निकट लगती है। रेलगाड़ी के लौह मृदंग मे मशीन का आर्तनाद है, तो बैलगाडी के गति-स्वरों मे मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक सहयोग की साँसे बजती है।

आज साधारणत: स्नान के माने होते हैं आदि महाभूत जल मे स्नान। परन्तु भारत के स्मृतिकारो और आयुर्वेद के पण्डितो को इतने मे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने पंचमहाभूतो मे स्नान करने की व्यवस्था दे दी और इसके बाद मन और बुद्धि मे भी स्नान करने की बात कह कर सात प्रकार के स्नान बताये। इन स्नानो को क्रमश: भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण, मानस और मान्त्र स्नान कहते है। मै इन सारे स्नानों का सुख धृष्टतापूर्वक लूट चुका हूं। भौम स्नान अर्थात् मिट्टी या धूल मे लोटना, और बिना किसी शिखाधारी स्मृतिकार के हुक्म के ही मेरा यह स्वयं साधित स्नान था, जिसे आज से तीन दशक पूर्व मे प्रति दिन करता था और जो माँ के लिए उपद्रव था, तो पिताजी की दृष्टि मे गन्दगी था। आग्नेय स्नान का अर्थ होता हैं पवित्र भस्म से सारे शरीर को मलना और मित्रों के बीच यह पाखण्ड लीला भी मै अपने बचपन मे कर चुका हूँ। वायव्य स्नान अर्थात् सन्ध्या की उड़ती गोधूलि में विचरण करने का अनुभव भी अहीर बालकों के

सत्संग में मैं कर चुका हूँ। आकाश स्नान या दिव्य स्नान बड़ा ही मनोहर स्नान है। जब उगी हुई धूप के बीच वर्षा की फुहार गिर रही हो अर्थात् स्यार मामा का विवाह हो रहा हो, तो उस में भीगना दिव्य-स्नान है और इसे मैं बड़े मनोयोग से कर के कई बार दण्डित हो चुका हूँ। और जल-स्नान तो सारी दुनिया जानती है, पर इसी की एक विशिष्ट शैली है वारुण स्नान, जो पानी में कूद-कूद कर, छपका खेलते हुए उन्मत्त शैली मे किया जाता है और मैं आँगन में लगे वर्षा जल से लेकर बाढ़ पानी तक में यह वारुण स्नान कर चुका हूँ। और इस सद्कर्म के लिए पीटा भी जा चुका हूँ।

मुझे तो लगता है कि कम से कम स्नान के संदर्भ में मेरा बचपन पूरा-पूरा स्मृतिकारों के आदेश के मुताबिक़ बीता है। पर उन दिनों मुझे 'स्मृति चन्द्रिका' या 'ग्लॉसरी ऑफ स्मृति लिटरेचर' जैसे ग्रन्थों का नाम भी ज्ञात नहीं था, अन्यथा माँ से प्रतिवाद अवश्य करता, "मारती क्यों हो, दिव्य स्नान या वारुण स्नान कर रहा था—देखो, देखो, इस धर्मशास्त्र को, और एक धार्मिक कार्य में बाधा देने के लिए पश्चात्ताप करो।" इन पचभूतों में स्नान के अतिरिक्त आता है बुद्धि के माध्यम मे मान्त्र स्नान या वाङ्मय में स्नान। वाङ्मय मे गोता लगाना (अवश्य ही वह साठोत्तरी का वाङ्मय न हो तो) एक अपूर्व बौद्धिक स्नान है और काव्य, साहित्य और चिन्तन के सहस्रशीर्षा समुद्र के तट पर खड़े होकर लहरें प्रदान करने में, उनमे सराबोर होने में मुझे अपूर्व आनन्द आता है। अन्त मे आता है मानस स्नान। इसका अर्थ स्मृतिकारों ने भगवान् विष्णु का ध्यान बताया है। परन्तु इस अर्थ को विस्तृत करके देखें तो लगता है वह कोई भी ध्यान चाहे वह देवता का हो या अन्य किसी सौन्दर्य सत्ता का, मानस स्नान की संज्ञा पा सकता है, जो हमे रजोमुक्त कर के उदात्त और देवाविष्ट करे। ध्यान माने देवता का अपने अन्दर अनुभव और आवेश। ध्यान के पूर्व अंग-अग में देवशक्ति का आवाहन या न्यास करने की प्रथा इसी से चालू की गयी है। अतः कोई भी ध्यानयोग जो मन को रज और तम से मुक्त करे, मन को हलका करे, आत्मा को लघिमा प्राप्त कराये, हमारी सत्ता को किसी प्रवाहमयी विरजा नदी के साथ एकाकार होते हुए अनुभव कराये, जिस से रक्त की उन्मत्तता शान्त हो, जिससे मन के घाव नीरुज हो जाये, भवताप का अनुभव थम जाये, वह ध्यान मानस-स्नान है।

दोनों भौहों के मध्य जहाँ तृतीय नयन का स्थान है, जहाँ सिंहवाहिनी निवास करती है, वहाँ सारे मन को खींचकर एकाग्र करने पर इस मानस-स्नान में सहस्र तेजस्वी किरणों को प्रभा धारा में अवगाहन जैसा सुख मिलता है। दोनों पलकों के नीचे दृष्टिस्नायु-मण्डल किसी के जाने-पहचाने अथवा

कल्पित चन्द्रोपम मुख का ध्यान इस मानस स्थान को ज्योत्स्ना-स्नान में परिवर्तित कर देता है। हमारे हृदय-कमल के मध्य विष्णु का निवास है। उनका उस स्थल पर ध्यान करने पर इस मानस-स्नान में हमें अनुभूति की तीर्थकन्या नदी में उलट-पुलट कर अपने 'स्व' को मज्जित-प्रक्षालित करने जैसा सुख मिलता है। इस प्रकार यह मानस स्नान अपूर्व और अलौकिक अनुभव है और इसकी असंख्य श्रेणियाँ हैं देश काल और पात्र के अनुसार।

ये सारे स्नान तो जाने-पहचाने स्नान हैं। पर कई सौ नायिका भेद, भाव-भेद, अनुभाव-भेद की कल्पना करते-करते शताब्दियों काट देनेवाली जाति की स्नान-सूची यहीं नहीं समाप्त होती। कर्मकाण्ड और वैद्यक में तरह-तरह के अवमरों पर तरह-तरह के स्नानों का वर्णन है। पर सबसे अजीब है गौड़ीय वैष्णवों का वय:सन्धि पर चढ़ी नायिका के मन और देह का वयस-स्नान। वैष्णवों के अनुसार हम लड़कों के क्षेत्र में तो कोई खास बात नहीं, पर साक्षात् राधा की सगुण प्रतिमाएँ लड़कियाँ वयस की नदी में स्नान कर के दिन पर दिन और-ही-और होती जाती है। इस स्नान के तीन स्तर हैं जो करुणाभाव, तरुणाई और लावण्य के माध्यम से साधित होते है। वय:सन्धि की प्रथम अवस्था में किशोरी में चपलता मृगया भाव और निर्मम लीला-विभ्रम की हलकी-सी लालसा रहती है। इसके बाद काम का सम्पर्क होने पर उस में प्रेमी के प्रति अनुकम्पा या मोहमाया का सचार होता है। और इस अवस्था में मन करुणावारि या 'कारुण्यामृत' में स्नान करता है। तब स्वभाव में तरलता और अनुकम्पा का प्रवेश होता है। इस स्वभाव-परिवर्तन का असर देह पर पड़ता है और तरुणाई षोडशी कला में फूटती है। इसे दूसरा स्नान 'तारुण्यामृत-स्नान' कहते है। भाव और देह दोनों सम्पूर्ण प्रस्फुटन से अपने आप तीसरी अवस्था आ जाती है, चरम लावण्य का उद्घाटन। लावण्य केवल आंगिक श्री नहीं, यह तन-मन-नैन-बैन सबके समवेत संयोग से व्यक्त होता है। वचनचातुरी और कथन-भगिमा तक इसके अन्तर्गत है। और, यह अवस्था 'लावण्यामृत-स्नान' कही गयी है। इसमे स्नान करने के बाद किशोरी नायिका लज्जा का नील-वसन धारण करती है। इम प्रकार वयस की नदी मे स्नान करके उसका व्यक्तित्व पूर्णता को प्राप्त करता है। यों यह सब आज की नायिकाओं पर लागू नहीं होता। आज तो सब उलटा-पुलटा हो गया है और हो रहा है। यह उन लोगों की बातें है, जिनके जीवन की ज्यामिति 'भाव के नीर में स्नान ही असली स्नान है' की साधारण प्रतिज्ञा लेकर प्रारम्भ होती थी।

जब मैं हिन्दुओं के स्नान-प्रेमी की बातें ज़ोर देकर कहता हूँ, तो मेरा तात्पर्य यह नहीं कि अन्य जातियों में स्नान-प्रेम का अभाव है। स्नान तो

प्रत्येक सभ्य जाति द्वारा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण दैनिक कर्म माना गया है। रोमनों, तुर्कों, मुग़लों और जापानियों ने स्नान-विलास की दिशा में एक से एक बढ़कर अपूर्व प्रयोग किये हैं। ईसाई धर्म के सप्त संस्कारों में आदि संस्कार है 'बपतिस्मा'। इसका मुख्य कर्म है शिशु को पवित्र जलधारा में पुरोहित द्वारा स्नान कराना। शिशु जन्मा था मनुष्य रूप में। इस संस्कार द्वारा वह 'द्विज' हो गया, उसका ईसाई के रूप में दोबारा जन्म हो गया। पुरोहित, जो लैटिन मन्त्र बोलता है उस मन्त्र का आशय है; 'मैं तुम्हें प्रभु की विशेष सन्तान बना रहा हूँ।' बिना इस संस्कार के ग्रहण किये कोई भी प्राणी प्रभु के राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं। स्नान को आदि संस्कार का मुख्य अंग माननेवाला यही ईसाई धर्म मध्य युग में एक तरह से स्नान-विरोधी हो गया। यह एक आश्चर्य की बात है। ईसाइयों की धार्मिक अदालत (इनक्वीजेशन) में अनेक ग़ैर-ईसाइयों को स्नान करने के लिए दण्डित किया गया। सेंट ऐनस्लेम जैसे अनेक ईसाई सन्तों ने गन्दगी को भक्ति आदि एक अंग मान लिया तथा फोड़े-फुंसियों को "प्रभु के प्यार की मुक्ताणियाँ'; क्योंकि दुख के माध्यम से ही हम प्रभु के प्यार के योग्य होते हैं। आज ईसाई धर्म का स्वभाव बदल चुका है। आज यह सब बातें नहीं। परन्तु इन मध्ययुगीन विकृतियों के पीछे भी एक महान् ऐतिहासिक कारण है। ईसाई धर्म ने स्नान नहीं, बल्कि स्नान-विलास को शंका की दृष्टि से देखना शुरू किया, क्योकि ईसाई धर्म जन्मतः भले ही यहूदी हो, उत्तराधिकारी है यह रोमन धर्म और रोमन संस्कृति का। यहाँ तक कि बाइबिल के ईसाई खण्ड की मूल भाषा भी यहूदी नहीं, ग्रीक है। अतः संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से यह रोमन सन्तान है। ईसाई धर्म के पूर्व रोमन सभ्यता में 'स्नान' घोर विलास का रूप धारण कर चुका था। 'अति भोजन' और 'अति व्यभिचार' की ही तरह यह आत्मा का तृतीय घोर पाश बन चुका था। ईसाई चर्च ने प्रथम दो को सात-सात महापापों में गिन लिया पर स्नान का विरोध अप्रत्यक्ष और दबी ज़बान से ही किया, क्योंकि सहज सीमा तक स्नान करना तो सभी के लिए सदैव आवश्यक रहेगा, चाहे वह ईसाई हो या 'हेरेटिक'। ईसाई चर्च चाहता था कि रोमन ईसाई, जो स्नान को पुरानी परम्परा के अनुसार विलास को दृष्टि से देखने के आदी थे, इस अति स्नान की आदत को छोड़ें। इसी से यत्र-तत्र स्नान को धार्मिक विद्वेप का लक्ष्य होना पड़ा है।

प्राचीन रोमन सभ्यता में और पूर्ववर्ती ग्रीक सभ्यता में भी स्नान को बड़ा महत्त्व दिया गया। बड़े-बड़े विशाल जन-स्नानागारों से रोमन साम्राज्य के शहर भरे पड़े थे। स्नानागार खुला रंगमंच या क्रीड़ाभूमि (ऐंफी थियेटर)

और लैटिन भाषा—ये तीन रोमन सभ्यता के बाहरी निशान थे। और भीतरी प्रतीक थे 'स्तोइक दर्शन' और रोमन क़ानून। जहाँ-जहाँ रोमन गये —पाँचों साथ-साथ पहुँचे। रोमन स्नानागार मे कम से कम पाँच खण्ड होते थे। पहले गरम हवा, फिर भाप, फिर सुगन्धित भाप, फिर गरम जल, फिर शीतोष्ण जल और अन्त मे शीतल जल से स्नान करके यह स्नान-कल्प पूर्ण होता था। साधारण रीति से भी दो घण्टे लग जाते थे। पर ऐसे स्नानप्रेमी बहुत-से थे, जो सवेरे घुसते थे, दोपहर को प्रातराश या हलके भोजन के लिए ही बाहर आते थे; और फिर एक घण्टे बाद घुसते थे तो सध्या के बाद ही स्नानागार से निकलते थे। फिर रात को उसी अतिशयता से पान और दुर्धर्ष भोजन एव रतिक्रिया, तत्पश्चात् निद्रा। पर वह भी मध्यरात्रि के बाद सम्भवतः वेश्या-गृह, पानगृह या भोजनशाला मे ही। रोमन अपने घोर दैहिक विलास के बाद अपने देह-मन का शुद्धीकरण दीर्घ स्नान-प्रक्रिया और 'स्तोइक दर्शन' के मध्य करता था, और जब यह विलासी रोमन कवच चढ़ाकर रथ पर या अश्व पर सवार होकर चलता था तो उसके समान अनुशासित सृष्टि का और कोई जीव हो ही नही सकता। लगता है कि रोमन घोर पान और विलास द्वारा जो कुछ आत्मक्षय करता था, वह उसकी आत्मिक क्षति-पूर्ति की चेष्टा करता था दीर्घ स्नान द्वारा। जो हो परन्तु रोमनो जैसे स्नान-विलासी जाति इतिहास मे और कोई नही हुई। अन्त में यह स्नान-विलास आत्मा की मुक्ति नही, पाश बन गया। बहुतो के लिए तो यह मदिरा और नारी से भी बढ़कर नशा बन गया था।

प्रतिदिन के स्नान-विलास के अतिरिक्त रोमनो के स्नान-पर्व भी होते थे। एक समय सारे यूरोप मे वर्तमान फरवरी मास के उत्तरार्ध मे स्नान-उत्सव चलता था 'फेब्रुआ' उत्सव। फरवरी या 'फेब्रुअरी' शब्द इसी उत्सव के नाम पर बना है। उन दिनो 'फरवरी' बारहवाँ मास था और नये वर्ष का प्रारम्भ वसन्त-सम्पात के मास मार्च से होता था। इस बात का सबसे बडा सबूत है सेप्टेम्बर, ऑक्टोबर, नवम्बर और डेसेम्बर शब्दो के अर्थ। सेप्टेम्बर का शाब्दिक अर्थ है सातवाँ मास, अक्टूबर का आठवाँ मास, नवम्बर का नवाँ मास और दिसम्बर का दसवाँ मास। इस तरह से फेब्रुअरी यूरोप का अन्तिम मास था और स्नान-मास के रूप में जाना जाता था क्योंकि वर्ष समाप्त हो रहा है, वसन्त ऋतु आने वाली है, शिशिर समाप्तप्राय. है, ऐसे मे ही तो भरपेट स्नान कर मन को पुन. संस्कार देना सर्वथा उचित होता।

रोमन सभ्यता का प्रथम केन्द्र और राजधानी थी रोम नगरी। द्वितीय राजधानी थी वर्तमान इस्ताम्बुल, जिनका पुराना नाम 'बाइजैन्तियम' अथवा 'कुस्तुनतुनिया' है। यह केन्द्र तुर्कों के हाथ चले जाने पर रोमन-स्नान-कला

से तुर्क-स्नान कला विकसित हुई। आज भी तुर्की में स्नान-विलास एक जीवित कला और लोकप्रिय मनोविनोद के रूप मे चल रहा है। भारत के मुगल भी स्नान के बड़े शौक़ीन थे, और सुना जाता है कि गुलाब के इत्र के 'रूह' की ईजाद नूरजहाँ के स्नानागार मे ही हुई थी। पूर्वी एशिया मे जापानी स्नान-कला ने अपना स्वतन्त्र विकास किया है। किन्तु रोमन-तुर्क स्नान-कला की उद्दामता और अतिविलास इसमे अनुपस्थित है। जापानी जाति रस की बूंद-बूंद का, 'बुद्ध-चित्त' की भावदशा मे सजग-सचेत रूप से आस्वादन करने की विश्वासी है। यहाँ के परम्परागत स्नानागार प्राय: दुतल्ले होते थे। ऊपर पानकक्ष और सगीत की व्यवस्था थी और निचले तल्ले मे स्नानगृह, जिसमे जापानी नागरिक और भद्र पुरुष 'जेन' शैली मे स्नान को 'ध्यान योग' मे परिवर्तित करके काल प्रवाह के क्षण प्रति क्षण का स्वाद लेते थे। पर यह ध्यानयोग या जेनमुद्रा 'मौन समाधि' की ओर उन्मुख नही थी। स्नान-जल की सुखलहरियो द्वारा यह मौनता लहरिल और उर्मिल होती रहती थी अन्यथा मौनता तहीभूत होकर दही-सी जम जाती और जमी मौनता सड़ सकती है, विकृति को जन्म दे सकती है। भाव-तरगायित मौन या ध्यान ही वाछनीय होता है।

ठीक इसके विपरीत है अपनी काशी के दशाश्वमेध घाट का स्नानपर्व। हड़कम्प और हुडदग भरा स्नान-उत्सव। 'बम-बम हर-हर' का भीषण रव, हाक-हुकार, डाट-फटकार! लगता है कि सहस्रशीर्ष शिव ही उतर आये है स्नान करने, लगता है कि कही पर हिन्दुस्तानी लोगो का भोज हो रहा है, लगता है कि स्नान नही, स्वर्ग से बरसते पुण्य की लूटपाट हो रही है, लगता है कि मनुष्य देह मे प्रवेश करके वटुक-प्रथम आदि धूर्जटी के हजारो खास शिष्य ही स्नान कर रहे है। विदेशी यात्रियो को भले ही यह भयानक और वीभत्स लगे, पर मुझे तो शुद्ध वीर रस ही, जो शान्त रस का सहोदर है इस मे दिखाई देता है। मै हिन्दू हूं और हिन्दू मे भी सोमनाती ('सोमनाथ का उपासक'—यो यह शब्द इकबाल का है)। मुझे जब कभी अवसर मिलता है, मै धक्के खाकर भी ऐसे सामूहिक स्नान-सुख को लूटता हूँ और हजार-हजार के बीच स्नान करते हुए मुझे लगता है कि मै ही हजार-हजार होकर स्नान कर रहा हूँ, मै हा सहस्रशीर्ष बन गया हूं। पर जब मै अकेले रहता हूं तो मुझे वारुण-स्नान की अपेक्षा मानस-स्नान ही अधिक सुख देता है। वारुण-स्नान तो उस महत्-स्नान की भूमिका मात्र बनकर रह जाता है। तब मेरे मन के अन्दर श्लोक पर श्लोक रूपो और दृश्यो का सगुण अवतार लेने लगते है। मै कभी उज्जयिनी में स्थित हो जाता हूं, तो कभी अलका मे, कभी रामेश्वरम् तट पर, कभी देवगिरि पर। कभी कोई प्रेमिका, कभी कोई गुरु, कभी कोई कवि मेरा

हाथ पकड़ मुझे ले चलते हैं, उस मानववर्जित अनुभव लोक में। अकेले जाने की कहाँ सामर्थ्य है मेरे पास ? भीतर बैठा गुरु श्लोक बोलता है और मैं इस अनुभव लोक में प्रवेश करके एक अपूर्व स्नान-दृश्य का साक्षी बन जाता हूँ :

"तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्प बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥" (43, 44 : पूर्व मेघ)

मुझे लगता है कि श्लोक मुझे ही आदेश दे रहा है ओ यक्ष-मेघ, ओ प्रिय ललित निबन्धकार, तुम स्कन्द के पवित्र निवास देवगिरि-शिखर की ओर बढ़ जाना। वहाँ शिव का अपूर्व तेजस्वी बालक निवास करता है। तुम उसे अपनी फुहार से नहलाना, बच्चा जो है, बड़ा खुश होगा ! जैसा बाप वैसा बेटा। शिव की तरह यह भी बड़ा ही स्नान-प्रिय है। ओ कामरूपी ललित निबन्धकार, तुम इसकी प्रसन्नता के लिए अपने आप को पुष्प-मेघ बना देना और आकाशगंगा के जल के साथ मिश्रित करके तुम नन्हें-नन्हें बकुल या शेफाली के फूलों की हलकी फूही के साथ सुगन्धित वर्षा करना। बड़े-बड़े वजनी फूल मत लेना, नहीं तो फुहार की मौज नहीं आयेगी और वर्षा की सौम्यता नष्ट हो जायेगी। वज़नदार चीज़ों की वर्षा तो हिमपात या चुनाव भाषणों के अवसर पर ही फबती है। तुम्हारी सुगन्धित सौम्य झड़ी में भीग-भीगकर कार्तिकेय अत्यन्त प्रसन्न होगा···तत्पश्चात् हे मेरे मित्र-मेघ तुम तो जानते ही हो कि उसका एक दुलारपोषित प्रियपक्षी भी है—मयूर, जिसके कलाप शिव के शीश-चन्द्रिका की चितवनों से निरन्तर धुल कर सदैव चमाचम रहते हैं। इस मयूर की गिरि-पाँखों, अर्थात् बर्हों को दौड़-दौड़ कर कार्तिकेय चुन लाता है और माँ के हाथों मे "माँ, यह ले, माँ यह भी ले, देख कितना अच्छा है !" कह-कह कर समर्पित करता जाता है। और, भवानी भी पुत्र का मन रखने के लिए कर्णों से पुष्प-श्रृंगार हटाकर इन मयूर-पखों को धारण करती हैं। तुम तेजस्वी बालक के क्रीड़ा-सहचर उस मयूर को भी अपनी श्याम छवि और गम्भीर गर्जन से नचाना। तुम्हारी गर्जना गुहा-गुहा, दरी-दरी, से प्रतिध्वनित होकर दोहरायी जायेगी, कार्तिकेय का मयूर कलाप पंख खोलकर महा उल्लासपूर्वक नाचेगा, उक्त पर्वत के अंग-अंग से उठती प्रतिध्वनियाँ अदृश्य दैवी मृदंगों का ऑर्केस्ट्रा बन जायेगी, भवानी अपने हाथों से ताल

देंगी और बालक कार्तिकेय स्नान के बाद यह अपूर्व खेल देखकर और अधिक प्रसन्न होगा।

इस प्रकार, जब-जब मेरे अन्दर बैठा गुरु श्लोक के माध्यम से मुझे आदेश देता है, तब-तब मुझे लगता है कि मैं वह नहीं जो परिजन-पुरजन की दृष्टि में दिखाई पड़ता हूँ, बल्कि कुछ और हूँ और श्लोक के मध्य घटित लीला में मैं भी सक्रिय अभिनय कर रहा हूँ। आप लोगों की दृष्टि में यह मेरा मानस-रमण है। पर मैं इसे मानस-स्नान कहता हूँ।

लेखक-परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885)

(स्व.) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 1850 ई० मे वाराणसी मे हुआ था। हिन्दी साहित्य रचना के क्षेत्र मे भारतेन्दु युगान्तरकारी लेखक के रूप में प्रसिद्ध है। भारतेन्दु के रचनात्मक व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं—कवि, नाटककार, निबन्धकार, उपन्यासकार, सपादक, अनुवादक। भारतेन्दु युग को पत्र-पत्रिकाओ का युग कहा जाता है। निबन्ध विधा के विकास के पीछे पत्र-पत्रिकाओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विषय और रूप के वैविध्य के कारण भारतेन्दु-युग के निबन्ध आज भी पाठको को नयी उत्तेजना मे सम्पन्न जान पड़ते है। भारतेन्दु के निबन्धो के महत्त्व को भी इस युग के परिप्रेक्ष्य मे देखने की आवश्यकता है।

भारतेन्दु के निबन्धो का विषय क्षेत्र पर्वो, त्योहारो से लेकर भूकम्प, मित्रता, अपव्यय, जातीय सगीत, सूर्योदय, बीबी फानिमा तक इतना विविध है कि आश्चर्य होता है। धर्म, राजनीति, सस्कृति, शिक्षा आदि क्षेत्रो की समस्याएँ इन निबन्धो मे उठायी जरूर गयी है पर महत्त्व उनका इसलिए है कि सर्वत्र इनके निरूपण मे एक व्यग्यधर्मी दृष्टि सक्रिय है। साथ ही एक आत्मीय ढग की विकलता व्यग्य को एक नयी अर्थवत्ता दे सकी है। भाषा और शिल्प की विविधता इन निबन्धों के अनिवार्य गुण है। 'एक अभूतपूर्व स्वप्न' तथा 'स्वर्ग मे विचारसभा का अधिवेशन' भारतेन्दु के ऐसे निबन्ध है, जिनमे एक प्रकार का कहानीपन मौजूद है। यह सकेत है कि भारतेन्दु युग में निबन्ध-विधा का स्वरूप अभी बन रहा था और निबन्ध गद्य की अन्य शैलियों के उपयोगी तत्त्वो के ग्रहण से एक अनोखी ऋजुता, रचनात्मक ताप उपलब्ध कर सका।

व्यग्य और हास्य के बल पर एक रचनात्मक प्राणवत्ता उपलब्ध करने वाले भारतेन्दु के निबन्धो मे उनके अद्वितीय व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। व्यक्ति व्यंजकता इन निबन्धों का अपना मौलिक गुण है। हिन्दी मे निबन्ध-

विधा का ही नहीं व्यक्तिव्यंजक निबन्ध जैसे विशिष्ट साहित्यरूप का विकास भी भारतेन्दु के निबन्धों से ही संभव हुआ।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (1855-1922)

(स्व.) 'प्रेमघन' भारतेन्दु मंडल के प्रतिष्ठित लेखक थे। भारतेन्दु युग के साहित्य निर्माण में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आपका जन्म सन् 1855 में मिर्जापुर (उ० प्र०) में तथा निधन सन् 1922 में हुआ।

हिन्दी की पहली साहित्यिक पत्रिका 'आनंद कादम्बिनी' के संपादक के रूप में प्रसिद्ध 'प्रेमघन' ने अधिक निबन्ध नहीं लिखे है पर अलंकृत शैली के अपने निबन्धों के लिए वे विशिष्ट स्थान के अधिकारी समझे जाते है। उन्हें 'हिन्दी का मान्तेन' तक कहा गया है। 'प्रेमघन सर्वस्व' के द्वितीय भाग में उनके निबन्ध संकलित हैं।

'प्रेमघन' के निबन्धों का गद्य अलंकृत और कभी-कभी अनिश्चित वाग्जाल की निर्मित जान पड़ता है। वाण के गद्य को अपना आदर्श बनानेवाले लेखक के लिए अनुप्रासयुक्त दीर्घवाक्यावली का मोह स्वाभाविक है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'प्रेमघन' का एक विलक्षण गद्य लेखक कहा है। उनके अनुसार, 'प्रेमघन' गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले, कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे।

'प्रेमघन' के निबन्ध में वह व्यक्तिव्यंजकता अथवा रचनात्मक ऋजुता नहीं है, जो भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त के निबन्धों की विशेषता है। 'समय' 'हमारी परतहरी' 'हमारी दिनचर्या' प्रेमघन के कुछ रोचक पाठनीय निबन्ध है। हिन्दी में पुस्तक समीक्षा को आरम्भिक गति देनेवालों में 'प्रेमघन' का नाम पहला है। उनका निबन्धकार व्यक्तित्व एक प्रकार के आलोचक व्यक्तित्व का समानधर्मा है।

प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894)

(स्व.) प्रतापनाराण मिश्र का जन्म उन्नाव में हुआ। आपने ब्राह्मण' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। आपने नाटक, प्रहसन, निबंध आदि शैलियों के माध्यम से हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में योगदान दिया। मनोरंजक निबंध रचना को चरमसीमा तक पहुँचाने वाले प्रतापनारायण मिश्र के

निबंध पाठकों से सीधा आत्मीय संवाद बनाने में सफल हैं। उनमें विदग्ध व्यंग्य की सजीवता सबसे पहले ध्यान आकृष्ट करती है। 'प्रताप नारायण ग्रंथावली' में मिश्र जी के निबंध संकलित हैं। इनके कुछ अन्य निबंध संग्रह है—'निबंध नवनीत', 'प्रताप पीयूष' और 'प्रताप समीक्षा'।

प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों का विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। 'दाँत', 'भौ', 'आप', 'बात' 'धोखा', 'रिश्वत', 'बेगार', 'होली' जैसे विषयों पर लिखते हुए मिश्र जी ने अपने निबन्धों में रोचक पठनीयता का निर्वाह सहज रूप से कर सके हैं। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करते हुए, ठेठ बैसवारे की कहावतों का प्रयोग करते हुए मिश्र जी व्यंग्य-विनोद का कौतुक जीवित रखते हैं। हिन्दी को ग्रामीण बोलियों के निकट लाने का ऐसा सार्थक प्रयास उस युग के अन्य किसी निबंधकार के यहाँ नहीं दिखाई देता।

प्रतापनारायण मिश्र की निबन्ध-शैली छेड़छाड़ और तेजस्विता का अनोखा सामंजस्य उपस्थित करती है। मिश्र जी ने अपना प्रसिद्ध पत्र 'ब्राह्मण' होली के दिनों में निकाला था, इसीलिए हास्य रस से उनका संबध लगभग जन्मजात माना जाता है। 'श्लेष' से हास्य उत्पन्न करने की सार्थक चेष्टा मिश्र जी के निबन्धों में लक्ष्य की जा सकती है।

'नाटक' या प्रहसन से मिश्र जी ने जितना काम लिया उतना ही निबन्धों से भी। देश काल तथा मानव स्वभाव के व्यंग्य पर मिश्र जी की दृष्टि निरन्तर केन्द्रित रही है। नगण्य विषयो पर लिखते हुए भी वे कभी-कभी बड़े तीव्र सामाजिक जीवन में अन्तर्विरोधों, विसंगतियों को प्रत्यक्ष कर सके हैं।

जगमोहन सिंह (1857-1899)

(स्व.) जगमोहन सिंह का जन्म सन् 1857 में हुआ तथा आपका देहावसान केवल बियालिस वर्ष की आयु में सन् 1899 में हो गया।

हिन्दी निबन्धकारों में ठाकुर जगमोहन सिंह पहले लेखक हैं, जिन्होंने दर्शनीय स्थानो का सौन्दर्य चित्रित करने के लिए निबन्ध-विधा का अत्यन्त रचनात्मक उपयोग किया है। उनके निबन्धों में प्रकृति के प्रति एक गहरा लगाव दिखाई देता है। वर्णनात्मक प्रकृति के निबन्धों में भावुकता सरीखे काव्यगुण का समावेश करते हुए ठाकुर जगमोहन सिंह ने अपनी एक विशिष्ट शैली भी विकसित की है। 'श्यामा स्वप्न' उनके महत्त्वपूर्ण निबन्धों में है, जिसकी शैलीगत विशिष्टता रेखांकित करने योग्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठाकुर जगमोहन सिंह के निबन्धों को

प्रेमघन के निबन्धों की रूपात्मक विशिष्टता के निकट बताया है। अंतर यह है कि प्रेमघन के यहाँ गद्य अधिक जटिल गुम्फित अलंकार-युक्त है, जब कि ठाकुर जगमोहन सिंह के निबंधों का गद्य रोचक सरल प्रवाहयुक्त है। काव्यात्मक माधुर्य यहाँ भी है पर अलंकृति का भार लेकर नहीं।

बालमुकुन्द गुप्त (1865-1907)

(स्व.) बालमुकुन्द गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरथानी नामक गाँव में हुआ था। गुप्तजी के पिताजी का नाम लाला पूरनमल था।

गुप्त जी के प्रारम्भ में बाइस वर्ष की आयु में मिर्ज़ापुर से निकलनेवाले उर्दू अखबार 'अखबारेचुनार' का सम्पादन भार सम्भाला तथा कुछ समय बाद लाहौर से निकलनेवाले 'कोहेनूर' नामक पत्र के मम्पादक बनाये गये।

बालमुकुन्द गुप्त अपने व्यंग्यपूर्ण निबंधों की विशिष्ट शैली के लिए अलग मे याद किये जाते हैं। उनके कुछ निबन्ध 'गुप्त निबधावली' के नाम से प्रकाशित है पर उनकी कीर्ति का प्रमुख आधार है—'शिव-शम्भू का चिट्ठा' जो हिन्दी गद्य की बेजोड़ रचना है। भगेड़ी शिवशम्भू में दिवा स्वप्नों के वहाने गुप्त जी विदेशी शामन की धज्जियाँ उड़ायी है। काव्यात्मक कल्पना का व्यंग्य-प्रेरित उपयोग गुप्त जी के निबन्धों की महत्त्वपूर्ण विशेपता है।

बालमुकुन्द गुप्त के निवन्ध भाषा पर लेखक के अचूक अधिकार का साक्ष्य बन पड़े है। हास्य और गंभीर के बीच अद्भुत संतुलन निभाते हुए गुप्त जी ने अपने निबंधों की पठनीयता निरन्तर विकास किया है। उनका गद्य आधुनिक गद्य के तेवर और संवेदन के निकट है।

बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू पर विशेष अधिकार प्रमाणित किया। उन्होंने उर्दू में प्रकाशित 'मथुरा अखबार' के लिए निबन्ध लेख भी लिखे। व्यंग्यात्मक कविताओं में भी बालमुकुन्द गुप्त के स्वच्छन्द कल्पनाशील व्यक्ति-व्यंजक स्वभाव का स्पर्श विद्यमान है। 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारतमित्र के सम्पादक के रूप में प्रसिद्ध बालमुकुन्द गुप्त मूलकः व्यक्तिव्यंजक निबंधकार ही थे।

माधवप्रसाद मिश्र (1871-1907)

(स्व.) मिश्र जी द्विवेदी युग के महत्त्वपूर्ण निबंधकार है। उनका जन्म भिवानी के पास कूंगड़ नामक ग्राम नामक ग्राम में गौड़ परिवार में हुआ था। समाज-सुधार की इच्छा से प्रेरित होकर वैश्योपकारक' पत्र का सम्पादन कुछ दिन किया। देवकीनन्दन खत्री सहायता से काशी से मिश्र जी ने 'सुदर्शन' की नामक एक मासिक पत्र निकलवाया। इस पत्र के सम्पादन काल में उन्होंने साहित्य संबंधी वहुत से लेख, समीक्षाएँ और निबन्ध लिखे।

'माधव मिश्र ग्रंथावली' और 'माधव मिश्र निबंधावली' में मिश्र जी के भावात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, और विचारात्मक निबंध संग्रहीत हैं। पाश्चात्य विद्वानों के अपरिपक्व लेखन के विरोध में मिश्र जी ने 'बेबर का भ्रम' नामक लेख लिखा।

भाषा के सबंध में मिश्र जी का दृष्टिकोण शुद्धतावादी रहा है। कहीं-कहीं उर्दू और अग्रेज़ी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

मिश्र जी की शली अत्यन्त प्रभावपूर्ण और उत्कृष्ट हैं। उन्होने अपने निबन्धों में भावात्मक, वर्णनात्मक, हास्य-व्यंग्यात्मक और विचारात्मक शैलियों का प्रयोग किया है। मिश्र जी के निबन्ध प्राय: पर्वो, त्योहारों, धार्मिक रुचि के स्थानों से सम्बद्ध है, जिनमे उनके सांस्कृतिक लगाव का अनुमान किया जा सकता है मिश्र जी के कवि-स्वभाव का प्रभाव निवन्धों पर लक्ष्य किया जा सकता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1922)

(स्व.) गुलेरी का जन्म जयपुर में हुआ था। 'उसने कहा था' शीर्षक प्रसिद्ध कहानी के लेखक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी निबन्धकार के रूप में विशिष्ट स्थान के अधिकारी है। 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठांउ' आदि उनका निवन्ध उनके पठित व्यक्तित्व और जीवन्त स्वभाव में परिचित कराते है। 'पुरानी हिन्दी' के सम्बन्ध में उनका विस्तृत निबन्ध उनकी विवेचनात्मक शैली का उदाहरण है।

संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा में अच्छी गति होने के कारण गुलेरी जी ने अपनी विदग्ध भाषा का प्रभावपूर्ण उपयोग किया है। उनकी भाषा में एक प्रकार का विदग्ध पर सहज पांडित्य भी है। मुहावरों के प्रयोग में गुलेरी जी की सतर्कता और रुचि स्पष्ट है।

गुलेरी जी के निबंध व्यक्तिव्यंजक कहे जा सकते हैं। इतिहास पुरातत्त्व और संस्कृति-सम्बन्धी चिन्तन करते हुए गुलेरी जी अपने व्यक्तित्व की स्वच्छन्दता का आभास दे सके हैं।

रामचन्द्र शुक्ल (1884-1940)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जनपद के अगोना नामक ग्राम मे सन् 1884 में हुआ था।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी निबधकारों की पहली पंक्ति में है। उन्होने आलोचनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक निबधों में अपने व्यक्तित्व का अपनी अभिरुचि और जीवनदृष्टि का सम्पूर्ण उपयोग किया है। मनोविकारों से सम्बद्ध शुक्ल जी के निबन्ध उनकी अन्तरात्मा के मार्मिक अनुभव-स्थलों को प्रकट करते है। व्यावहारिक मनोविज्ञान की समझ के आधार पर शुक्ल जी ने करुणा, उत्साह, श्रद्धा और भक्ति, लोक और प्रीति जैसे विषयों पर निबध लिखे है। उनमे सहृदयता और बौद्धिकता का रोचक संगठन है।

'हिन्दी शब्दसागर' और भूमिका के रूप मे आपने साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास करके हिन्दी साहित्य के इतिहास का जो सूत्रपात किया था, कालान्तर में वही आपकी समीक्षा सम्बन्धी शैली और गम्भीर ऐतिहासिक दृष्टि का ज्वलन्त प्रकाश स्तम्भ सिद्ध हुआ। शुक्ल जी के लेखन मे जो गम्भीर मनोविश्लेपण तथा साहित्य के सूक्ष्मतम तत्त्वों की गहन दृष्टि मिलती है, उसकी पृष्ठभूमि में आपका बहुआयामी स्वाध्याय है। आपकी गम्भीर मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति का पूर्ण परिपाक '**चिन्तामणि** (तीन भागों मे) नामक निबंध-सग्रह मे परिलक्षित होता है।

गुलाब राय (1888-1963)

बहुमुखी प्रतिभा के धनी बाबू गुलाबराय जी का का जन्म इटावा जनपद में हुआ था। विषय-वैविध्य की दृष्टि से बाबू गुलाबराय का निबंध साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। 'ठलुआ क्लब' 'फिर निराशा क्यों' 'मेरे निबंध' 'कुछ उथले, कुछ गहरे' 'मेरी असफलताएँ' आदि पुस्तकों में विविध विपयों पर लिखे हुए बाबू साहब के निबन्धों में दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति आदि क्षेत्रों में अनेक प्रश्न उठाये गये है। आत्मव्यंजक निबधों में भी बाबूसाहब

की चिन्तनशीलता लक्ष्य की जा सकती है। अपने निबन्धों के विषय में बाबू गुलाबराय लिखते हैं—"मैं अपने निबंधों में अपेक्षाकृत वैज्ञानिक और विषय-गत होते हुए भी उनकी साहित्यकता को अक्षुण्ण रख सका हूँ। यही मेरे लेखन की विशेषता है।"

बाबू साहब के आत्मव्यंजक निबन्धों में हास्य-व्यंग्य का उपयोग भी है पर सहज मर्यादा के साथ। श्लेष और लक्षण के बल पर हास्य रचते हुए बाबू साहब शैलीगत भंगिमा को निबंध का आवश्यक संस्कार स्वीकार करते आये हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी (1889-1968)

(स्व.) माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले के बाबई नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता श्री नन्दलाल चतुर्वेदी अध्यापक थे। चतुर्वेदी जी बाल्यावस्था से ही साहित्य प्रेमी थे और उनकी रचनाएँ 'प्रभा' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। सन् 1911 में उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पं० माधव सेठ के सहयोग से 'कर्मवीर' नामक पत्र निकाला।

कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने 'साहित्य देवता' लिखकर अपने निबंधकार व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं अद्वितीयता का प्रमाण दिया है। एक विशेष प्रकार का लाक्षणिक कवित्वमय गद्य चतुर्वेदी जी के निबन्धों की विशेषता है 'कर्म-वीर' पत्र का सम्पादन करते हुए चतुर्वेदी जी ने ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्प-णियाँ लिखी है जिन्हें, उत्कृष्ट सर्जनात्मक आत्मव्यंजक निबन्धों की कोटि में रखा जा सकता है। चतुर्वेदी जी की भावात्मक निबंधशैली छायावादी गीति संवेदना के संस्कार से प्रभावित है। राष्ट्रीय स्वाधीनता-संघर्ष में निरन्तर लगे रहने के कारण चतुर्वेदी जी ने एक विशेष प्रकार का स्वाभिमान, समर्पण और बलिदानीपन उपलब्ध किया, जिसका आभास उनके निबन्धों में मिलेगा।

माखनलाल चतुर्वेदी के समीक्षकों ने उनकी गद्य-भाषा पर अनावश्यक अलंकृति का आरोप किया और दूरान्वय तथा उलझी विचार-सारणी जैसी सीमाओं की ओर संकेत किया है पर कहने की आवश्यकता नहीं कि यही दोष जब तब उनके निबन्धों के गुण कहे जा सकते है।

रायकृष्णदास (1892-1981)

(स्व.) रायकृष्ण दास—उपनाम 'नेही' का जन्म वाराणसी में हुआ। आप प्रेमचन्द के समकालीन कहानीकार एवं गद्य काव्य लेखक थे। आपको चित्रकला मूर्तिकला एवं पुरातत्त्व में विशेष रुचि रही। आप भारती भण्डार तथा भारतीय कला भवन के संस्थापक थे।

आपके गद्यगीतों में भावुकता रहती है। अत: आपकी शैली भी भावात्मक एवं पद्यात्मक है।

'भारत की चित्रकला' एवं 'भारतीय मूर्तिकला' आपके मौलिक ग्रन्थ है। आपकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं में 'साधना' तथा 'कहानी संग्रह' 'आख्यान' एवं 'सुधांशु' मुख्य है। 'प्रवाल' गद्यगीतों का संग्रह है।

रायकृष्ण दास की ख्याति विशेष रूप से उनके गद्यकाव्य अथवा भावात्मक निबन्धों पर आधारित है। 'साधना' को गद्यकाव्य के रूप में विशेष सराहना मिली। रायकृष्ण दास ने पत्र-पत्रिकाओं में कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व विषयक क्षेत्रों से सम्बद्ध अनेक निबन्ध लिखे हैं, जिनमें शोध वृत्ति और पठित संवेदन के साथ सहज साहित्यिक संस्कारशीलता लक्ष्य की जाएगी। रायकृष्णदास ने स्मृतिमूलक निबंध भी लिखे हैं, जिनमें उनके अपने समय के महत्त्वपूर्ण अनुभव- प्रसंग अंकित है।

श्रीनारायण चतुर्वेदी (1893)

भैया साहब हिन्दी के प्रचारक और साहित्यकार दोनों ही हैं। वे साहित्यकारों के प्रेरक एवं सस्कृति वेत्ता के रूप में प्रसिद्ध है।

भैया साहब ने 'सरस्वती' पत्रिका का बीस (1955-75) वर्षों तक संपादन किया। उन्होंने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा साहित्य-जगत् में नव चेतना उत्पन्न की। वे श्री सम्प्रदाय के पक्के वैष्णव हैं। उनकी वैष्णवता और उदार चेतना साहित्य में भली-भाँति प्रतिफलित दिखाई देती है। वे हिन्दी साहित्य के चलते-फिरते विश्वकोश है—अपने आपमें इतिहास हैं। उन्होंने हिन्दी के सम्पूर्ण आधुनिक काल को अपनी आँखो से देखा है। आधुनिक हिन्दी का आदिकाल (1857-1908) उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है।

भैया साहब की गद्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—महात्मा टालस्टाय की जीवनी (सर्वप्रथम रचना), राजभवन की सिगरेटदानी, मनोरंजक संस्मरण, पावन संस्मरण, विश्व इतिहास, विश्वभारती (विश्वज्ञान कोश, चार खण्डों में)

पुण्य संस्मरण, कसौटी। इनके अतिरिक्त उन्होने अनेक निबन्ध एवं छोटी-छोटी पुस्तिकाओं की भी रचना की है।

सियारामशरण गुप्त (1895-1963)

(स्व.) सियारामशरण गुप्त का जन्म झाँसीमण्डल के चिरगाँव नामक स्थान पर हुआ था। आप राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे।

गुप्त जी के निबन्ध सवेदनशील मन की उपज है। 'झूठ सच' गुप्त जी का महत्त्वपूर्ण निबध सग्रह है, जिसमें हिन्दी के जातीय गद्य की बनावट देखी जा सकती है। गुप्त जी के कोमल रचना धर्मी व्यक्ति का सस्पर्श भी उनके निबन्धो मे मौजूद है। सस्कृतनिष्ठ तत्सम भाषा के साथ ठेठ बोल-चाल की सरल भाषा का सगठन गुप्त जी के गद्य की विशिष्टता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी (1902-1968)

(स्व.) रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म मुजफ्फरपुर जिले के बेनीपुर नामक गाँव मे हुआ। बेनीपुरी जी की साहित्यिक सर्जना का आरम्भ 1923 से हुआ। वे सफल सम्पादक, सिद्धहस्त लेखक और प्रसिद्ध समाज-सेवक रहे है। उन्होने पटना से प्रकाशित होनेवाली 'प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'नई धारा' का सम्पादन किया।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने उपन्यास, नाटक, कहानी, सस्मरण, शब्दचित्र, जीवनी, बालसाहित्य आदि हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओ को अभि-व्यक्ति का माध्यम बनाया। बेनीपुरी जी की समस्त रचनाएँ दस खण्डों में, 'बेनीपुरी ग्रथावली' के नाम से प्रकाशित होने लगी है। उनकी श्रेष्ठ कृति 'माटी की मूरते' साहित्य अकादेमी की ओर से समस्त भारतीय भाषाओं में अनूदित हो रही है।

बेनीपुरी जी के निबधो मे लालित्य और वक्रता का अनूठा सामजस्य है। सहृदयता, आत्मीयता के साथ तीखा व्यग्य भी कभी-कभी उनके निबन्धों में लक्ष्य किया जा सकता है। आत्मव्यजकता उनके निबधों का अनिवार्य गुण है। इस एक गुण के चलने से उनके निबधों का स्वभाव प्रायः संवादोन्मुख जान पड़ता है।

जैनेन्द्र कुमार (1905)

श्री जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के प्रसिद्ध कथा-साहित्यकार हैं। आपने कई उपन्यास एवं कहानियाँ लिखी हैं।

मनोवैज्ञानिक चित्रण पद्धति के कथाक.र जैनेन्द्र ने बड़ी संख्या में निबन्ध भी लिखे हैं। उनके प्रसिद्ध निबन्ध संग्रह हैं—'समय और हम', 'इतस्ततः', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न'। जैनेन्द्र के कथात्मक गद्य का निखरा हुआ रूप निबन्धों में देखा जा सकता है। जैनेन्द्र मूलतः विचारक हैं। उनके विचारक व्यक्तित्व से कहानी उपन्यास की सहजता जहाँ बाधित होती है, वहाँ निबन्ध-विधा लाभान्वित हुई है। प्रश्नात्मक चिन्तन, स्वयमालाप और संवाद आदि अनेक युक्तियों से जैनेन्द्र अपने निबन्धों को पठनीय बनाते हैं। जहाँ स्वयमालाप ही प्रधान रह जाता है, वहाँ जैनेन्द्र के निबन्ध दुरूह जान पड़ते हैं।

विचारों की नवीनता भी जैनेन्द्र के निबन्धों का विशिष्ट गुण है। विषय को स्वच्छन्द परिप्रेक्ष्य देने के लिए जैनेन्द्र बराबर आत्म सैजग रहते हैं। सम्पृक्ति और तटस्थता के साहचर्य से जैनेन्द्र के निबन्धों में एक नई संवेदनीयता विकसित है, जो आत्मचिन्तन में आनन्द अनुभव करनेवाले पाठको को प्रीतिकर लगेगी।

महादेवी वर्मा (1907)

छायावादी कवियों ने गद्य-सृजन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। महादेवी कवयित्री के रूप में जितनी महत्त्वपूर्ण हैं, गद्यकृती के रूप में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। विशेष रूप से संस्मरणात्मक गद्य में महादेवी की व्यक्तिविशिष्टता लक्ष्य करने योग्य है। महादेवी के रेखाचित्र शब्दों में बिम्ब रचने के अनोखे उदाहरण हैं। महादेवी ने विचारात्मक निबन्ध भी बड़ी संख्या में लिखे हैं, जिनमें एक संवेदनशील कवि-स्वभाव की स्पष्ट छाप है। महादेवी के निबंधों में संवाद और वक्तव्य की गहरी आत्मीयता, चिन्तन की उदात्तता, सहानुभूति और संवेदना का सहज आवेग है।

'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति के रेखाएँ', 'शृंखला की कड़ियाँ', 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', 'साहित्यकार की आस्था' में महादेवी की निबंधकार-प्रतिभा का विकास देखा ज। सकता है।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी (1907-1979)

(स्व.) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म बलिया ज़िले के 'दुबे का छपरा' गाँव के एक प्रतिष्ठित सरयूपारी ब्राह्मण कुल में हुआ था। संस्कृत और ज्योतिष ज्ञान आपको विरासत के रूप में मिला था।

इतिहास चिंतक, आलोचक, उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हज़ारीप्रसाद द्विवेदी यशस्वी निबन्धकारों की अग्रपंक्ति में हैं। हिन्दी में व्यक्तिव्यंजक अथवा ललित निबंध को विकसित करनेवाले लेखकों में हज़ारीप्रसाद द्विवेदी अग्रणी हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों में व्यक्तित्व का जो खुलापन था, वह आगे परिस्थितियों के दबाव और एक प्रकार की नैतिकतावादी दृष्टि के आग्रह से अवरुद्ध हुआ। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्धों में पाण्डित्य और सृजनशीलता का अनोखा सामंजस्य रचते हुए व्यक्तिव्यंजकता और लालित्य के स्पर्श से निबन्ध विधा को नयी सार्थकता दी। 'अशोक के फूल' 'विचार और वितर्क, 'कल्पलता', 'कुटज' आदि निबन्ध संग्रहों में द्विवेदी जी के निबन्ध संकलित हैं। अब 'हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' के नवें और दसवें खण्ड में द्विवेदी जी के निबन्ध संकलित हैं। बहुश्रुत और कथाकौतुकी व्यक्तित्व के साथ द्विवेदी जी की कवि-दृष्टि भी उनके निबन्धों में मौजूद है।

स्मृति और वर्तमान के राग और द्वन्द्व में निरन्तर रचे-बसे द्विवेदी जी के निबन्धों में अकुण्ठ भावावेग, गहरी हार्दिकता, कल्पना समृद्ध भावप्रणता के साथ मार्मिक व्यंग्यविनोद भी उपलब्ध है। शास्त्र और लोक के बीच सार्थक सम्बन्ध बनाते हुए द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक अवगति और स्वाधीन कल्पना का सम्यक् उपयोग किया है।

राममनोहर लोहिया (1910-1967)

प्रतिपक्षी राजनीति को दिशा देने वाले स्व. राजनेताओं में राममनोहर लोहिया का एक अलग व्यक्तित्व रहा है। लोहिया राजनेता की औसत पहचान से भिन्न एक बौद्धिक चिन्तक और संवेदनशील लेखक के रूप में अपनी छाप छोड़ गये हैं। 'इतिहास चक्र' और 'धरती माता' उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं जो इतिहास और संस्कृति की व्याख्या करने के लिए एक नये ढंग के प्रखर गद्य का उपयोग करती है। 'मार्क्स गांधी और समाज' तथा 'गांधी और समाजवाद' लोहिया की अन्य कृतियाँ हैं।

लोहिया के निबंधों में संवाद धर्मी विश्लेषणात्मकता लक्ष्य की जा सकती है : ये निबंध प्रश्न उठाते हैं उत्तेजित करते हैं और बौद्धिक कल्पना का ज़रूरी सहारा भी लेते हैं।

अज्ञेय (1911)

हिन्दी की नयी कविता-आन्दोलन के प्रवर्तक श्री अज्ञेय का जन्म गोरखपुर ज़िले के कसिया नामक ग्राम में 7 मार्च, 1911 को हुआ।

अज्ञेय संस्कारशील आधुनिक दृष्टि के ऐसे अनुभव समृद्ध लेखक हैं जिन्हें मुख्यतः कविता तथा सामान्यतः समूचे आधुनिक रचनात्मक लेखन में एक युगान्तर उपस्थित करने जैसा श्रेय दिया जा सकता है। बौद्धिक संवेदना, स्वाधीनता का सम्यक् बोध एवं प्रयोगधर्मिता अज्ञेय के रचनात्मक व्यक्तित्व के प्रमुख पक्ष हैं।'सब रंग और कुछ राग', 'आलवाल', 'भवन्ती', 'अन्तरा', 'लिखि कागद कोरे', 'अद्यतन', 'जोगलिखी', 'धार और किनारे', 'कहाँ है द्वारका' अज्ञेय के महत्त्वपूर्ण निबन्ध संग्रह हैं। 'त्रिशंकु' अज्ञेय के आलोचनात्मक निबन्धों का पहला संकलन है, जिसे विचारों की नवीनता की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त है।

निःसंदेह अज्ञेय ने निबंधशैली को नया रचनात्मक संस्कार दिया है। यात्रा, डायरी, अंतरावलोकन, स्मृति-प्रसंग अज्ञेय के निबन्ध अनेक रूपों को आवश्यकतानुसार चुनते हैं। और व्यक्तित्व के अन्यतम स्पर्श से समृद्धि प्राप्त करते हैं। रागमूलकता और तटस्थता का मिला-जुला प्रभाव लेकर अज्ञेय के आत्मव्यंजक ललित निबन्धों की रचना हुई है। कुछ निबन्धों में अज्ञेय की व्यंग्यवक्रता भी लक्ष्य की जा सकती है—अवश्य ही शालीनता उसका साथ नहीं छोड़ती।

अज्ञेय ने हिन्दी निबन्ध को सांस्कृतिक संवेदना के सम्प्रेषण का माध्यम बनाया है और प्रमाणित किया है कि व्यक्तित्व सम्पन्नता और अहं का विसर्जन कविता की ही तरह निबन्ध का मौलिक गुण भी है। बौद्धिक और रागात्मक संवेदना में गहरे रचे हुए अज्ञेय के निबंध सच्चे अर्थों में निबन्ध कहे जा सकते हैं, जिनके बंधन और मुक्ति का सार्थक अद्वैत दिखाई देता है।

अमृत राय (1921)

श्री अमृत राय यशस्वी कथाकार प्रेमचन्द के पुत्र एवं प्रख्यात कहानीकार तथा चित्रकार श्री श्रीपत राय के छोटे भाई हैं। इस प्रकार साहित्य एवं कला से आपका परिचय जन्मकाल से ही रहा है और उसकी स्वाभाविक समृद्धि आपकी रचनाओं में मिलती है। स्व० प्रेमचन्द की कई लुप्त रचनाओं का पुनरुद्धार उनका सम्पादन और उनकी प्रामाणिक जीवनी (क़लम का सिपाही) लिखकर आपने हिन्दी साहित्य के इतिहास पक्ष को भी समृद्ध किया है। 'क़लम का सिपाही' जीवनी लेखन का एक आदर्श उदाहरण है।

प्रगतिशील विचारधारा के एक समर्थ लेखक के रूप में भी अमृत राय का नाम प्रख्यात है। आपने बहुत-सी कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं।

आपके लेखन में यथार्थ के प्रति प्रतिबद्धता और सामाजिक दृष्टि से गहरा लगाव दिखायी देता है। 'आनन्दम्' इनके निबन्धों एवं कहानियों का उत्कृष्ट संकलन है। 'सरगम' लघु कहानियों का संकलन है। 'बीज' और 'धुआँ' इत्यादि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'आदि-विद्रोही' आपके द्वारा हॉवर्ड फ़ास्ट के प्रसिद्ध उपन्यास का हिन्दी अनुवाद है। आपको साहित्य अकादेमी एवं सोवियत भूमि पुरस्कार मिल चुका है।

कई भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में आपकी रचनाओं का अनुवाद हो चुका है।

हरिशंकर परसाई (1924)

श्री हरिशंकर परसाई हास्यव्यंग्यपरक निबन्धों के लिये प्रसिद्ध है, जिनमें स्वतंत्र भारत की ज़िन्दगी, उनके अन्तर्विरोधों, स्वार्थपरक राजनीति में लिप्त राजनेताओं, मध्यवर्गीय संस्कारों की तीखी व्यंग्यात्मक समीक्षा की गयी है। परसाई के निबन्ध सामाजिक बदलाव में लेखक की सहभागिता प्रमाणित करते हैं। परसाई 'विकलांग श्रद्धा का दौर' शीर्षक व्यंग्यात्मक निबन्ध संकलन के लिए साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

परसाई का व्यंग्य तेज चुभता हुआ व्यंग्य है, जो लेखक के आक्रोश का आभास भी देता है। परसाई के निबन्ध संग्रहों में—'पगडंडियों का ज़माना', 'सदाचार की तावीज़', 'विकलांग श्रद्धा का दौर' तथा और 'अंत में' महत्त्व-पूर्ण हैं।

श्रीलाल शुक्ल (1925)

आधुनिक युग के हास्य-व्यंग्य लेखकों में श्री श्रीलाल शुक्ल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य-सर्जन के प्रति इनकी रुचि आरम्भ से ही रही है।

आधुनिक हास्य-व्यंग्य लेखकों में श्रीलाल शुक्ल ने अपनी महत्त्वपूर्ण पहचान बनायी है। उनके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं—'अंगद का पाँव' और 'यहाँ से वहाँ'। 'यह घर मेरा नहीं' संग्रह में कहानियों के साथ निबन्ध भी संकलित हैं। 'अपने बारे में' शीर्षक एक टिप्पणी में श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है—'बचपन से ही मेरी साहित्यिक रुचि क्लासिकी थी (जो आधुनिक का अनिवार्यतः विपर्यय नहीं है)।' श्रीलाल शुक्ल के हास्य व्यंग्यप्रधान निबन्धों में पाठक क्लासिक और आधुनिक रुचियों एवं संस्कारों का अद्भुत सामंजस्य देख सकेंगे। समय, समाज, संस्कृति, राजनीति, प्रशासन, साहित्य, मध्यवर्गीय बौद्धिकता या आधुनिकीकरण के अन्तर्विरोध—ऐसे अनेक संदर्भ हैं, जो श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्यदृष्टि में प्रायः आते रहे हैं।

श्रीलाल शुक्ल के निबन्धों में व्यक्तिव्यंजकता है और व्यक्तित्व से जरूरी अलगाव या तटस्थता भी है। श्रीलाल शुक्ल के निबंधों का गद्य हिन्दी का ठेठ जातीय गद्य है—वह बालमुकुन्द गुप्त जैसे निबन्धकारों के निबन्ध शिल्प का स्वाभाविक विकास है।

विद्यानिवास मिश्र (1926)

डॉ. मिश्र जी का जन्म मकर संक्रान्ति 1982 वि० में गोरखपुर जिले के पकड़डीहा ग्राम में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा गोरखपुर में तथा उच्च शिक्षा इलाहाबाद में हुई। गोरखपुर विश्वविद्यालय, संस्कृत विश्वविद्यालय एवं आगरा विश्वविद्यालय में क्रमशः संस्कृत एवं भाषा विज्ञान का अध्यापन।

इनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं :

'छितवन की छाँह,' 'कदम की फूली डाल,' 'तुम चन्दन हम पानी','आँगन का पंक्षी और बनजारा मन,' 'मैंने सिल पहुँचायी', 'साहित्य की चेतना', 'बसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं', 'कँटीले तारों के आरपार', 'परम्परा बन्धन नहीं', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'कौन तू फूलवा

बीननिहारी', 'अस्मिता के लिए, 'तमाल के झरोखे से', 'निज मुख मुकुट', 'अंगद की नियति,' 'साहित्य का प्रयोजन' आदि मिश्र जी के प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं।

अज्ञेय के शब्दों में, "पश्चिम के साहित्यों और संस्कृतियों से गहरे परिचय ने विद्यानिवास मिश्र को आतंकित नहीं किया है बल्कि उनकी भारतीयता को और पुष्ट किया है।" लालित्य चेतना उनके निबन्धों का अंतरंग संस्कार हैं—वह आरोपित नहीं है। अतीत की स्मृति उनके लिए केवल नास्टेल्जिया नहीं है—हालाँकि कभी-कभी वह भी है और जहाँ है एक सर्जनात्मक सघनता लिये हुए हैं।

हिन्दी में व्यक्तिव्यंजक निबंधों की स्वतन्त्र पहचान को रेखांकित करते हुए विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं—"यदि वास्तव मे हिन्दी में व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध साहित्य का मूल हम ढूंढ़ना चाहते हैं तो एक ओर हमें उन वैदिक एवं पौराणिक स्तुतियों एवं व्याख्यानों की ओर जाना होगा जहाँ मनुष्य देवता की सन्निधि में आने के लिए या देवता मनुष्य की सन्निधि में आने के लिए 'मैं' 'तुम' सम्बन्ध में आबद्ध दिखायी पड़ते हैं या जहाँ 'मैं' अनुभव प्रमाता के रूप में कथानक और कथानायक दोनों बनकर आता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी का 'मैं' 'हम' का विरोधी नही है और यही पश्चिम के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध से हिन्दी के व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का मूलतः स्पष्ट भेद दिखाई देता है।"

धर्मवीर भारती (1926)

डा. धर्मवीर भारती नयी पीढ़ी के साहित्यकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका जन्म झेलम (पंजाब) में सन् 1926 में हुआ। उन्होंने अनेक साहित्यिक विधाओं के क्षेत्र में नये प्रयोग किये गये हैं।

धर्मवीर भारती की ख्याति का मुख्य आधार उनका कवि रूप है। वह नयी कविता के प्रमुख कवि हैं। कविता के अलावा धर्मवीर भारती ने उपन्यास कहानी, एकांकी नाटक, काव्य नाटक, समीक्षात्मक ग्रन्थ तथा निबन्ध भी लिखे हैं। उनका गद्यकार रूप भी पद्यकार के समान ही सशक्त है। भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' विशेष चर्चा के विषय रहे।

इन्होंने आस्था बाहुल्य की कहानियों की रचना की है तथा इक्कीस पाश्चात्य देशों के विविध कहानियों के अनुवाद भी किये हैं। भारती ने

समय-समय पर कई महत्त्वपूर्ण निबंध लिखे हैं। इनके निबन्धों के तीन संग्रह विशेष रूप से चर्चित है, यथा—'ठेले पर हिमालय', 'कहनी अनकहनी' तथा 'पश्यंती'।

कवि, कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार के रूप में अपनी पहचान बनानेवाले धर्मवीर भारती निबन्धकार तथा पत्रकार/सम्पादक के रूप में भी प्रसिद्ध है इनमें भारती का संस्कृत चिन्तन भी उपलब्ध है और आत्मस्पर्श भी।

भारती अपने निबन्धों में विचारात्मक और व्यंग्यात्मक शैली का साहचर्य उपस्थित करते हैं। भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की विसंगतियों को पहचानने में धर्मवीर भारती निरन्तर सजग रहे है। यह सजगता भारती के निबन्धों में लक्ष्य की जा सकती है। भारती के अधिसख्य निबन्ध समसामयिक टिप्पणियों के रूप मे लिखे गये है इसलिए उनमें एक प्रकार का ऐतिहासिक पीड़ा-बोध दिखाई देता है।

निर्मल वर्मा (1929)

निर्मल वर्मा का जन्म शिमला में 1929 में हुआ था। निर्मल वर्मा गहरे आधुनिक संवेदन के कथाकार के रूप में प्रसिद्ध है। 'वे दिन', 'लाल टीन की छत' एवं 'एक चिथड़ा सुख' जैसे उपन्यास उनकी सर्जनात्मक संवेदना की पहचान कराते हैं। 'परिन्दे' 'जलती झाड़ी' आदि कहानी-संग्रहों में निर्मल वर्मा की रचनात्मक संवेदना का जीवित स्पर्श विद्यमान है। यद्यपि उनका कहानी-संग्रह 'कव्वे और काला पानी' साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत है, लेकिन निबन्ध भी निर्मल वर्मा की अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। चिन्तनपरक और स्मृतिमूलक निबंधों में निर्मल वर्मा बराबर हमारी संस्कृति के संकट को आधुनिक मनुष्य की नियति को मूल्यगत संक्रमण और संघर्ष को उद्घाटित करते रहे हैं। व्यक्तित्व की तीखी आँच पहली चीज है, जिसे निर्मल वर्मा के निबन्धों के पाठक सहज अनुभव करेंगे।

'शब्द और स्मृति', 'चीड़ पर चाँदनी', 'हर बारिश में' और 'कला का जोखिम' निर्मल वर्मा के प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह है, जिनमें अभिव्यक्ति का परिष्करण भी मिलेगा और अनुभव की आंतरिक समृद्धि भी। निर्मल वर्मा के ही शब्दों में उनके अधिसंख्य निबन्धों को 'पर्सनल ब्रूडिंग के निबन्ध' कहा जा सकता है। उनकी दृष्टि में उनके निबन्धों को 'ग़ैर आधुनिक' कहना ही उचित है क्योंकि उनमें आधुनिकता के अंधविश्वासों और युक्तियों पर शंका

की गयी है। अलगाव के विशिष्ट बोध ने निर्मल वर्मा के निबन्धों को भावुक आत्ममोह से बचा लिया है।

कुबेरनाथ राय (1935)

कुबेरनाथ राय इधर के व्यक्तिव्यंजक निबंधकारों में प्रमुख हैं। उन्होंने गहरे अध्ययन और सांस्कृतिक अवगति के आधार पर अपने निबन्धों को महत्त्वपूर्ण वैचारिक परिप्रेक्ष्य दिया है। संस्कृति साहित्य और अंग्रेज़ी साहित्य के गहरे सम्पर्क में उन्होंने व्यापक दृष्टि प्राप्त की है, जिसके आधार पर आधुनिक भारतीय जीवन की संस्कृति संरचना और उसे विचलित करनेवाले मूल्य संकट की व्याख्या की जा सकती है। प्राचीन मिथकों और अभिप्रायों की नयी सर्जनात्मक व्याख्या भी कुबेरनाथ राय के निबन्धों में उपलब्ध है।

कुबेरनाथ राय के निबंधों में कभी-कभी सहजता और ऋजुता के स्थान पर बौद्धिक गहनता और विदग्धता देखी जाती है।



